

उत्तराखण्ड की लोकभाषाएँ : स्वरूप और चुनौतियाँ

डॉ. अचलानन्द जखमोला

उत्तराखण्ड की लोकभाषाएँ : स्वरूप और चुनौतियाँ

उत्तराखण्ड की लोकभाषाएँ : स्वरूप और चुनौतियाँ

© लेखक : डॉ. अचलानन्द जखमोला

प्रकाशक : दून पुस्तकालय एवम् शोध केन्द्र
परेड ग्राउण्ड, देहरादून।

विनसर पब्लिशिंग कम्पनी
8, प्रथम तल, के.सी. सिटी सेंटर,
4, डिस्पेन्सरी रोड, देहरादून-248001

वर्ष : 2013

मूल्य : /- रुपए

मुद्रक : समय साक्ष्य
15 फालतू लाइन, देहरादून- 248001
दूरभाष-2658894

(2)

दो शब्द

भाषाविद् और लेखक डॉ. अचलानंद जखमोला की पुस्तक 'उत्तराखण्ड की लोक भाषाएं : स्वरूप और चुनौतियां' को प्रकाशित करते हुए दून पुस्तकालय एवम् शोध केन्द्र को अतीव प्रसन्नता है। डॉ. जखमोला के गहन अन्वेषण व व्यापक अध्ययन पर आधारित यह पुस्तक गढ़वाली, कुमाउंनी और जौनसारी लोक भाषा के विविध आयामों को एक धरातल पर प्रस्तुत करती है। उत्तराखण्ड की इन लोक भाषाओं से जुड़े तमाम बिन्दुओं विशेषकर भाषा, लिपि तथा मानकीकरण पर व्यापक प्रकाश डालकर लेखक ने शोधपरक कार्य किया है। विवेचना की दृष्टि से पुस्तक में गढ़वाली, कुमाउंनी व जौनसारी के अनेक शब्द दिये गये हैं, इस कारण पुस्तक की महत्ता और अधिक बढ़ गयी है। लोक भाषा में प्रचलित शब्दों को शुद्ध रूप में लिखने के लिए डॉ. जखमोला द्वारा अथक मेहनत की गयी है। वास्तव में लोक भाषा जैसे जटिल विषय पर केन्द्रित इस कृति को पाठकों के सम्मुख लाने में डॉ. जखमोला ने सराहनीय कार्य किया है, इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। आशा है यह पुस्तक हिमालय विशेषकर उत्तराखण्ड के भाषा, समाज और संस्कृति पर अध्ययन व शोध करने वाले लोगों के लिये सन्दर्भ पुस्तक के रूप में उपयोगी साबित होगी।

उत्तराखण्ड के समाज व संस्कृति से जुड़े विषयों पर दून पुस्तकालय एवम् शोध केन्द्र द्वारा पिछले पांच सालों में एक दर्जन के करीब पुस्तिकाओं का प्रकाशन किया जा चुका है। प्रकाशन की अगली श्रृंखला में अब डॉ. अचलानंद जखमोला की यह पुस्तक आपके हाथों में है।

इस पुस्तक के मुद्रण में समय साक्ष्य की श्रीमती रानू बिष्ट और उनकी टीम से हमेशा की तरह मिले सहयोग के लिए हम उनके आभारी हैं। साथ ही पुस्तक के सह प्रकाशक के तौर पर विनसर पब्लिशिंग कम्पनी के श्री कीर्ति नवानी द्वारा दिये गये सहयोग के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ। दून पुस्तकालय एवम् शोध केन्द्र के रिसर्च एसोसिएट श्री चन्द्रशेखर तिवारी से समय-समय पर प्रकाशन के विविध पक्षों पर सहयोग मिलता रहा है इसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। अन्त में पुस्तक के लेखक डॉ. अचलानंद जखमोला को इस महत्वपूर्ण कृति के लिए मैं दून पुस्तकालय एवम् शोध केन्द्र की ओर से हार्दिक बधाई देता हूँ।

बी० के० जोशी

निदेशक

दून पुस्तकालय एवम् शोध केन्द्र

देहरादून

(3)

आत्मकथ्य

बात सन् 2011 के उत्तरार्ध की है। सायं भ्रमण के दौरान दून पुस्तकालय एवं शोध केन्द्र के कुशल निदेशक और सुप्रसिद्ध शिक्षाविद् डॉ. बी.के. जोशी से प्रायः भेंट हो जाया करती थी। इन्हीं अवसरों पर उत्तराखण्ड के लेखकों के मार्ग में आने वाली कठिनाईयों पर भी चर्चा होती। आज का अधिकांश कुमाउँनी और गढ़वाली साहित्यसेवी, लेखक के अतिरिक्त स्वयं में मुद्रक, प्रकाशक, वितरक और पाठक अर्थात् 'फाइव इन वन' है।

घूमते-घूमते मैंने डॉ. जोशी से जिक्र किया कि गढ़वाली-कुमाउँनी पर कुछ लिखा है। डॉ. जोशी तपाक से बोले कि दून लाइब्रेरी और रिसर्च सेंटर ऐसे लेखों की सहर्ष प्रकाशन की व्यवस्था कर देगा।

प्रस्तुत पुस्तक उसी वार्तालाप का प्रतिफल है।

पुस्तक में उत्तराखण्ड राज्य की तीन लोकभाषाओं- कुमाउँनी, गढ़वाली और जौनसारी के भाषाई स्वरूप, उनकी वर्तमान स्थिति, चुनौतियाँ, भावी संभावनाएँ आदि से संबद्ध पक्षों पर स्वान्तः सुखाय लिखे गए कुछ अपने आप में स्वतन्त्र शोध-आलेखों का संग्रहण है। प्रत्येक लेख अपने में स्वतन्त्र है जो विभिन्न समय और मनःस्थितियों में लिखे गए हैं। इनमें से कई के आंशिक रूप या विचार अन्यत्र भी प्रकाशित हैं। अतः कुछ तथ्य, विवरण या मान्यताएँ इसी संग्रह से एक से अधिक लेख में पुनरावृत्त होने की भी संभावना है। वर्तनी में भी द्विविध रूप समाविष्ट हो सकते हैं।

कुमाउँनी और गढ़वाली को समवेततः 'मध्य पहाड़ी' (Central Pahari) नाम से भी अभिहित किया जाता है। यह नामकरण सर्वप्रथम वेन्स ने इन क्षेत्रों की बोलियों के लिए किया था, जिसको कालान्तर में जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन, डॉ. गुणानन्द जुयाल, प्रो. डी.डी. शर्मा, डॉ. गोविन्द चातक ने भी अपनाया। कारण यह था कि इन दोनों भाषाओं का जातिगत तथा अनुवांशिक संबंध, शब्दस्रोत, वाक्य-विन्यास, प्रवृत्ति तथा प्रकृति आदि प्रायशः समान है।

इन आलेखों में किसी नितान्त नए तथ्यों या अवधारणाओं अथवा विचारों को उजागर करने का मेरा कोई दावा नहीं है। मेरा सद्प्रयास केवल मात्र यही रहा है कि पुस्तक में समाहित विषयों से संबद्ध कुछ उपलब्ध और आवश्यक सामग्री को संक्षिप्ततः जिज्ञासु पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर सकूँ। फिर भी, विचाराधीन विषयों का आयाम इतना वृहद और व्यापक है कि इनके समस्त पक्षों पर इन लघु लेखों में ले

आना संभव नहीं था।

मैंने केवल उन दिशाओं को संकेतित किया है, जिनमें भावी अनुसंधित्सु अन्वेषण और शोध करने पर विचार कर सकते हैं। कुमाउँनी में अनेक श्रेष्ठ भाषाविदों ने निष्ठापूर्वक शोधपरक कार्य किया है। परन्तु गढ़वाली के भाषात्मक (Linguistic) तत्त्वों पर बहुत कुछ कार्य अपेक्षित है। जौनसारी तो इस क्षेत्र में लगभग शून्य है। यदि भावी शोधकर्ता इन आलेखों से तनिक भी प्रेरित हो सकें तो मैं अपने श्रम को सफलीभूत समझूँगा।

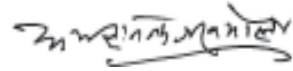
केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय भारत सरकार दिल्ली द्वारा संस्तुत 'देवनागरी तथा हिन्दी वर्तनी का मानकीकरण अभी तक पूर्णरूप से प्रयोग में नहीं आ पाया है। हमें पुरानी आदत छोड़ने में कुछ और समय लगेगा। फलतः इन आलेखों में भी यत्र-तत्र अनुस्वार, चंद्रबिन्दु तथा सवर्गीय वर्णों के संयुक्त व्यंजनों के प्रयोग में द्विरूपता दिखाई देगी। वैसे, निदेशालय द्वारा प्रस्तावित रूपों को ही ग्रहण किया जाना उचित होता।

इन आलेखों को पुस्तकाकार स्वरूप देने तथा प्रकाशित कराने का पूर्ण श्रेय मैं 'दून लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेंटर' के सुयोग्य निदेशक डॉ.बी.के. जोशी को देना अपना पुनीत कर्तव्य मानता हूँ। एतदर्थ उनके प्रति कृतज्ञता अर्पित करते हुए मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

दून पुस्तकालय एवम् शोध केन्द्र के निष्ठावान साहित्य प्रेमी श्री चन्द्रशेखर तिवारी ने बड़ी तत्परता तथा सौहार्द से पुस्तक के प्रकाशन में सहयोग दिया, जिसका कभी विस्मरण करना मेरे लिए संभव नहीं हो पाएगा।

लेखों में वर्तनी की अशुद्धियाँ यत्र-तत्र रह गई हैं। इनके लिए मैं टंकणकर्ताओं अथवा मुद्रक-प्रकाशक को ही दोषी नहीं मानता। कमी मेरी भी है। यदि अगला संस्करण छपा तो इन न्यूनताओं में सुधार लाने का प्रयास करूँगा।

290/II वसंत विहार
देहरादून-248006
दूरभाष (0135) 2763863
सचलभाष 07579187652



(डॉ. अचलानन्द जखमोला)
दीपावली
12 नवम्बर, 2012

उत्तराखण्ड की लोकभाषाएँ : स्वरूप और चुनौतियाँ

प्रो. शेरसिंह बिष्ट

एम.ए. (स्वर्णपदक प्राप्त),
पी.एच.डी., डी.लिट.
विभागाध्यक्ष-हिंदी विभाग
कुमाऊँ विश्वविद्यालय
एस.एस.जे.परिसर, अल्मोड़ा



विश्वविद्यालय परिसर आवास
16, विवेकानन्दपुरी,
वि.वि. अतिथि गृह के पास
अल्मोड़ा- 263601 (उत्तराखण्ड)
दूरभाष : (05962) 231632
मोबा. : 9719595076

भूमिका

भाषा और समाज का अटूट संबंध है। कोई भी समाज बिना भाषा के नहीं रह सकता, क्योंकि किसी भी समाज की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा ही होती है। प्रत्येक समाज की अपनी सांस्कृतिक पहचान होती है, जो भाषा के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार भाषा, समाज और संस्कृति परस्पर अन्योन्याश्रित होते हैं। किसी भी समाज में भाषा के दो प्रमुख स्तर होते हैं, 1. लोक भाषा 2. परिनिष्ठित या लिखित भाषा। लोकभाषा लोकमानस की अभिव्यक्ति का माध्यम होती है जो अलिखित रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी परंपरागत रूप से चलती रहती है। लोकमानस की लोकाभिव्यक्ति लोकसाहित्य कहलाती है जो लोकगाथा, लोककथा, लोकगीत, कहावतों एवं मुहावरों के रूपों में देखने को मिलती है। लोकभाषा में स्थानीय एवं जातीय कारणों से एक स्थान से दूसरे स्थान पर पर्याप्त भाषा-वैविध्य देखने को मिलता है क्योंकि उसमें किसी तरह के भाषिक अनुशासन का कोई औपचारिक प्रतिबंध नहीं होता।

लोकभाषा का परिनिष्ठित अथवा लिखित रूप अपेक्षाकृत स्थिर एवं भाषिक अनुशासन में निबद्ध होता है क्योंकि लिखित साहित्य पढ़े-लिखे लोगों द्वारा रचा जाता है जब कि लोक साहित्य का रचयिता प्रायः अनपढ़ समाज होता है, जिसे भाषा के औपचारिक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। यही कारण है कि लोकसाहित्य तथा परिनिष्ठित साहित्य के भाषिक विधान में अंतर पाया जाता है। लोकभाषाओं में जब परिनिष्ठित साहित्य के विविध रूपों एवं विधाओं का सृजन होने लगता है तो उसे व्याकरणसम्मत एवं मानकीकृत रूप में प्रस्तुत किए जाने की आवश्यकता महसूस होती है, ताकि उसमें एकरूपता लायी जा सके। एक एकरूपता जहाँ भाषा के स्तर पर पूरे समाज को एकजुट करती है, वहीं साहित्य के स्तर पर भी समाज को एक ईकाई के रूप में प्रस्तुत करती है।

आज उत्तराखण्ड एक पृथक राज्य के रूप में अस्तित्व में है। उत्तराखण्ड राज्य लंबे संघर्ष, त्याग एवं शहीदों के बलिदान के फलस्वरूप अस्तित्व में आया है। इस

पृथक राज्य-निर्माण के पीछे मुख्य उद्देश्य यही था कि हम अपनी सांस्कृतिक एवं भाषायी पहचान को बनाए रखते हुए, अपने संसाधनों से ही अपना चहुँमुखी विकास कर सकें। यद्यपि हिन्दुस्तान की राजभाषा हिन्दी और अंग्रेजी है तथा उत्तराखण्ड की गिनती हिन्दी भाषी राज्यों के अंतर्गत होती है लेकिन यहाँ के लोगों की मातृभाषा यहाँ की लोकभाषाएँ ही हैं। लोकभाषाओं को भी मुख्यतः तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है-1. कुमाउँनी, 2. गढ़वाली, 3. जनजातीय भाषाएँ।

उत्तराखण्ड की भाषाओं में भी कुमाउँनी और गढ़वाली पर भाषा वैज्ञानिकों द्वारा अतीत में काफी शोधपरक कार्य हो चुका है तथा आज भी उनके विविध पक्षों पर कार्य हो रहा है। लेकिन प्रसिद्ध कोशकार और भाषाविद् डॉ. अचलानन्द जखमोला की पुस्तक 'उत्तराखण्ड की लोकभाषाएँ : स्वरूप और चुनौतियाँ' एक नई दृष्टि और सोच को प्रस्तुत करती हैं। उन्होंने पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा उत्तराखण्ड की लोकभाषाओं के विविध पक्षों पर किए गए कार्यों की समीक्षा करते हुए, उन अनछुए पहलुओं को भी उद्घाटित किया है, जिन पर अभी तक विद्वानों की दृष्टि नहीं गई है। डॉ. जखमोला ने कुमाउँनी-गढ़वाली भाषा के स्वरूप, प्रकृति, और भाषिक सौष्ठव पर विस्तार से प्रकाश डाला है तथा भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी उनका गहन विवेचन एवं विश्लेषण किया है। इसके साथ ही उन्होंने दोनों भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उनके साम्य एवं वैषम्य को पुष्ट प्रमाणों के साथ प्रस्तुत किया है।

डॉ. जखमोला ने उत्तराखण्ड की लोकभाषाओं की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालते हुए उत्तराखण्डी समाज के लिए इन भाषाओं की उपयोगिता और महत्त्व के उन पक्षों की ओर भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है जो किसी भी समाज की अस्मिता और सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने के लिए अपरिहार्य होते हैं। कोई भी समाज और संस्कृति तभी जिन्दा रह सकते हैं जब वे अपनी जड़ों से जुड़े हों। जड़ों से कटने पर उनकी स्थिति कटी पतंग की तरह हो जाती है। अपनी पहचान को बनाए और बचाए रखने के लिए अपनी भाषा-संस्कृति रूपी जड़ों से जुड़े रहना तथा उन्हें पल्लवित और पुष्पित करना ही किसी जागरूक समाज की पहली प्राथमिकता होनी चाहिए। इस बात को बड़ी प्रामाणिकता के साथ डॉ. जखमोला ने अपनी पुस्तक में बड़ी शिद्दत से उठाया है।

उत्तराखण्ड की लोकभाषाओं और लोकसंस्कृति पर अभी तक जो भी अध्ययन सामने आए हैं, वे मुख्यतः शुष्क अकादेमिक रहे हैं। इस पुस्तक की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें भाषा-संस्कृति के प्रश्न को तमाम क्षेत्रीय विविधताओं के बावजूद उत्तराखण्ड की अस्मिता तथा भावात्मक एकता के साथ जोड़ा गया है। इस तरह यह अध्ययन समाज भाषा वैज्ञानिक होने के साथ-साथ उत्तराखण्ड के जनमानस के गहरे

उत्तराखण्ड की लोकभाषाएँ : स्वरूप और चुनौतियाँ

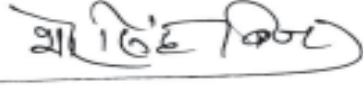
मानविकी संबंधो पर भी आधारित है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी कुमाउँनी गढ़वाली का मूल उत्स एक ही है। इस तरह एक ही परिवार की भाषाएँ होने के कारण दोनों भाषा-भाषी समाज में स्वयमेव पारिवारिक संबंध भी स्थापित हो जाते हैं, जो उन्हें परस्पर जोड़े रखने में सहायक है।

आज उत्तराखण्ड की प्रबुद्ध जनता चाहती है कि यहाँ की तीन प्रमुख लोकभाषाओं गढ़वाली, कुमाउँनी तथा जौनसारी को संविधान की आठवीं अनुसूची में स्थान दिया जाए, ताकि इनके भाषा साहित्य के विकास की संभावनाएँ और अधिक प्रबल हो सकें और उनके संरक्षण एवं संवर्धन की दिशा के अपेक्षित प्रयास किए जा सकें। इन बातों पर तार्किक दृष्टि से विचार करते हुए डॉ. जखमोला ने भाषाओं के मानकीकरण के प्रश्न को फिर से उठाया है कि लोकभाषाओं की एकरूपता, स्थिरता एवं व्याकरणसम्मत रूप के लिए लोकभाषाओं का मानकीकरण अत्यावश्यक है, तभी उन्हें औपचारिक शिक्षा का माध्यम बनाया जा सकता है तथा अन्य प्रांतों की भाषाओं, यथा- बंगाली, मराठी, तमिल, तेलगु, मलयालम, कन्नड आदि की तरह प्रांतीय स्तर पर राजभाषा का दर्जा दिया जा सकता है। लिपि के प्रश्न पर उनका दो टूक मत है कि उत्तराखण्ड की सभी लोकभाषाओं को लिपिबद्ध करने में देवनागरी लिपि सर्वथा सक्षम एवं अनुकूल है। अतः लिपि संबंधी विवाद को अनावश्यक तूल देना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

उत्तराखण्ड की लोकभाषाओं की वर्तमान स्थिति के प्रति डॉ. जखमोला विशेष रूप से चिंतित हैं। उन्होंने उत्तराखण्ड के सांस्कृतिक एवं भाषिक ह्रास के अनेक कारणों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए, उनके उन्नयन के लिए अनेक सुझाव भी दिये हैं। डॉ. जखमोला के अध्ययन एवं विश्लेषण की खासियत यह है कि वे जो भी भाषिक अथवा सांस्कृतिक समस्या उठाते हैं, उसका तर्कसंगत निदान भी प्रस्तुत करते हैं, चाहे वह भाषा के मानकीकरण का प्रश्न हो या फिर सांस्कृतिक अस्मिता के पुनर्जागरण का प्रश्न।

उत्तराखण्ड की लोकभाषाओं पर आधारित यह अध्ययन एक तरह से 'गागर में सागर' के समान है। लेखक ने अनावश्यक विस्तार से बचते हुए केवल उन्हीं बिंदुओं को सिलसिलेवार उठाया है जो यहाँ की लोकभाषाओं की प्रकृति, स्वरूप एवं सामर्थ्य से संबंधित है। यह अध्ययन विवरणात्मक न होकर विश्लेषणात्मक है तथा संबंधित विषय का तर्कसंगत मूल्यांकन एवं मौलिक प्रतिपादन है। यद्यपि इसमें जनजातीय भाषाओं के अंतर्गत केवल जौनसारी की ही वर्तमान अवस्थिति का मूल्यांकन एवं विश्लेषण है, लेकिन अन्य जनजातीय भाषाओं-जोहारी, रड; राजी, थारू, बुक्सा आदि की स्थिति भी जौनसारी से बेहतर न होकर बदतर ही है।

विद्वान लेखक ने भाषा-संस्कृति विषयक आधारभूत सामग्री को प्रमाणिकता के साथ प्रस्तुत किया है तथा अपने मौलिक चिंतन एवं निष्पक्ष मूल्यांकन का परिचय दिया है। उत्तराखण्ड की लोकभाषाओं के भाषिक एवं सांस्कृतिक पक्ष को उद्घाटित एवं विश्लेषित करने के कारण सभी वर्गों के पाठकों के लिए यह पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है। डॉ. जखमोला ने भाषा-संस्कृति के अतिरिक्त उत्तराखण्ड के आर्थिक पक्ष पर भी गंभीरतापूर्वक विचार किया है, क्योंकि अर्थ पर ही मानव जीवन निर्भर है। जो राज्य अपने नागरिकों की मूलभूत आवश्यकताओं रोटी, कपड़ा और मकान की आपूर्ति नहीं कर सकता, वह अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता। इसलिए उन्होंने उत्तराखण्ड के आर्थिक विकास का रोल मॉडल भी प्रस्तुत किया है, ताकि यहाँ से हो रहे पलायन को रोका जा सके और लोगों को यहीं रोजगार के साधन मुहैया कराए जा सकें। इस तरह का अध्ययन भाषा-संस्कृति तक ही सीमित न होकर, उत्तराखण्ड के आर्थिक पहलू पर काम करने वाले अनुसंधित्सु भी इससे लाभान्वित होंगे और उनका समुचित मार्गदर्शन होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।



अनुक्रमणिका

आत्मकथ्य	॥ 3
भूमिका	॥ 5
गढ़वाली का भाषायी क्षेत्र	
गढ़वाली भाषा : सामर्थ्य, प्रकृति और प्रवृत्ति	॥ 13
कुमाउँनी भाषा और बोलियों का परिक्षेत्र	
कुमाउँनी भाषा : स्वरूप और सौष्ठव	॥ 39
जौनसारी का भाषायी क्षेत्र	
उत्तराखण्ड की लोक भाषाओं में जौनसारी की अवस्थिति	॥ 55
कुमाउँनी और गढ़वाली भाषाएँ : साम्य और वैषम्य	॥ 73
उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक और भाषिक ह्यसोन्मुखता	॥ 91
गढ़वाली-कुमाउँनी भाषाओं का मानकीकरण	॥ 107
उत्तराखण्ड की भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि की उपयुक्तता	॥ 125
कुमाऊँ-गढ़वाल में पहाड़ अनेक : अन्तर्मन, दिल, धड़कनें और दर्द एक	॥ 136
संवैधानिक प्रावधानों में उलझती उत्तराखण्डीय भाषाएँ	॥ 152

गढ़वाली का भाषायी क्षेत्र

गढ़वाली का भाषायी क्षेत्र

(बोलियों, उपबोलियों की सीमाएँ अनुमानित हैं)



गढ़वाली भाषा : सामर्थ्य, प्रकृति और प्रवृत्ति

गढ़वाल एक सामासिक शब्द है जो 'गढ़' और 'वाल' के योग से निर्मित हुआ। 'गढ़' अर्थात् दुर्ग या किला। संबंधवाची 'वाल' प्रत्यय 'वाला' का लघ्वार्थक रूप है जो पूर्व शब्द के साथ मिलकर स्वामित्व या संबंध का बोध कराता है। तदनुसार गढ़वाल शब्द का अर्थ हुआ 'गढ़ या गढ़ों वाला प्रदेश'। इतिहासकारों के अनुसार वर्तमान गढ़वाल मंडल में एक बार 52 से भी अधिक गढ़ थे। ऋग्वेद (21.3.20) में इस क्षेत्र में असुरराज शंबर के 100 गढ़ों का उल्लेख है। इन सब गढ़पतियों को पालवंशीय राजा अजयपाल ने सन् 1500 के आसपास पराजित कर अपने आधिपत्य में लेते हुए एकीकृत किया। तदनुसार कालान्तर में इस क्षेत्र को 'गढ़वाला' > 'गढ़वाल' कहा जाने लगा।

डॉ. शिवप्रसाद डबराल इस पार्वत्य प्रदेश में अनेक 'गाड़' (छोटी-बड़ी नदियों) की अवस्थिति से गढ़वाल शब्द को 'गड़वाला' से व्युत्पन्न मानते हैं, यथा- गाड़वाला > गड़वाला > गड़वाल > गढ़वाल।

इसी गढ़वाल शब्द में 'ई' प्रत्यय के संयोग से संज्ञा वैशेषणिक शब्द गढ़वाली निष्पन्न होता है। वाच्यार्थ की दृष्टि से इसका प्रयोग गढ़वाल का निवासी अथवा गढ़वाल की बोली, भाषा या गढ़वाल से संबद्ध विषयों, वस्तुओं, क्रियाकलापों आदि के लिए भी होता है। सामान्यतः सभी देश विशेष के निवासी और भाषा के द्योतन के लिए 'ई' प्रत्ययान्त शब्द बनते हैं, जैसे - रूसी, जर्मनी, तिब्बती, चीनी, बंगाली, मराठी आदि।

पौराणिक और ऐतिहासिक आधार

आदिकाल में यह सपादलस क्षेत्र कारुपथ, इलावृत, केदारखंड, रुद्रहिमालय, हिमवंत, चुल्ल, सप्तसैन्धव, आर्यावर्त, ब्रह्मावर्त, भोट आदि कई नामों से ज्ञात था। चौथी-पाँचवी शती से यह भूखंड इतिहास सम्मत है तथा कई अन्य नामों, यथा-किरातमंडल, खशमंडल आदि से भी उल्लिखित है। गुप्तकालीन सम्राट समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्थित लौह स्तंभ पर अंकित 'कर्तृपुर'

वर्तमान गढ़वाल-कुमाउँ क्षेत्र को ही बताया जाता है जिसकी राजधानी प्रारंभ में बद्रीनाथ के समीप जोशीमठ रही। ह्वेनसांग (सन् 634) द्वारा वर्णित बौद्धांचल गढ़वाल के 'बधाण' परगने के आसपास का विशाल क्षेत्र संकेतित है। डॉ. शिवप्रसाद नैथानी के अनुसार ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरणों में जिस 'पो-लो-कि-मु-लो' राज्य का विवरण दिया है वह गंगा और करनाली नदियों के संगम पर, व्यासघाटी की दूसरी तरफ विस्तीर्ण टिहरी जनपद के अन्तर्गत आने वाला विशाल और समृद्ध इलाका 'ब्रह्मपुर' ही था। प्रो. के.पी. नौटियाल एवं कैप्टन शूरवीर सिंह वर्धन काल के यदुवंशीय 'सिंहपुर' को देहरादून जनपद के लाखामंडल क्षेत्र से जोड़ते हैं।

उपर्युक्त खोजपूर्ण विवरणों के बावजूद इस तथ्य को अवहेलित नहीं किया जा सकता कि प्राचीनकालीन गढ़वाल क्षेत्र का क्रमबद्ध, शोधपरक, व्यापक और अधिकृत इतिहास लिखा जाना अभी शेष है। इस प्रदेश के मूल ऐतिहासिक स्रोत अभी भी अनेक गुहा-चित्रों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों, पोथियों, मुद्राओं आदि में बिखरे पड़े हैं। पं. हरिकृष्ण रतूड़ी, डॉ. पातीराम, डॉ. शिवप्रसाद डबराल, डॉ. शिवप्रसाद नैथानी एवं डॉ. यशवंत सिंह कटोच आदि के ग्रंथ आधारीक, विवरणात्मक, मौलिक और महत्वपूर्ण होते हुए भी कई इतिहासकार उन्हें अपूर्ण मानते हैं।

सामान्यतः अभी तक सभी लेखक यही मानते आए हैं कि राजा अजयपाल के पश्चात् उसके वंशजों ने सन् 1803 तक श्रीनगर को राजधानी बनाकर समस्त क्षेत्र पर राज्य किया। मुगलों के शासनकाल तक इस भूभाग को बाहरी दुनिया में 'सिरीनगर' राज्य या 'गढ़वार' नाम से भी जाना जाता था। इधर श्रीनगर के समीप गोरखनाथ गुफा में सुरक्षित एक ताम्रपत्र में अपने राज्यारोहण के अवसर (सन् 1641) पर लिए गए संकल्प में पंवार वंशीय राजा पृथ्वीपतिशाह द्वारा अपने को 'गढ़वाल संतान' कहने का उल्लेख है, जिससे यह धारणा प्रबल हुई है कि सत्रहवीं शती से पूर्व यह क्षेत्र 'गढ़वाल' नाम से प्रचलित हो गया था।

सन् 1815 तक इस राज्य की राजधानी श्रीनगर ही रही। नेपाली सेना को पराजित कर अंग्रेजों ने गढ़वाल राज्य को 'टेहरी' और 'ब्रिटिश गढ़वाल' के नाम से दो भागों में विभाजित कर दिया जो स्वतंत्रता प्राप्ति तक क्रमशः टिहरी स्टेट और उत्तरप्रदेश के अंग के रूप में जाने जाते रहे। सन् 2000 से यह भू-भाग उत्तराखण्ड प्रदेश के दो प्रमुख मंडलों में से एक है।

गढ़वाली भाषा : सामर्थ्य, प्रकृति और प्रवृत्ति

भौगोलिक स्थिति और सीमाएँ

प्रशासनिक दृष्टि से इस भू-क्षेत्र की सीमाएँ समय-समय पर घटती-बढ़ती रहीं। स्कन्दपुराण में गढ़वाल मंडल को 'केदारखंड' बताया गया है जो पश्चिम में तमसा (टोंस), पूर्व में बौद्धांचल (वर्तमान बधाण), उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में गंगाहार (हरिद्वार) तक फैला था और जो 50 योजन लम्बा और 30 योजन चौड़ा था। कत्यूरियों के काल में इस प्रदेश की उत्तर पश्चिमी सीमाएँ काबुल तक फैली थीं। पँवार शासन काल में पश्चिम और पूर्व की सीमाओं में अंतर होता रहा। कभी दक्षिण में नजीबाबाद, मंगलौर, अफजलगढ़ आदि इलाके भी गढ़वाल के अन्तर्गत बताए जाते हैं। राहुल सांकृत्यायन के कथनानुसार एक बार उत्तर में थोलिंग के पास प्रवाहित सतलज नदी गढ़वाल की उत्तरी सीमा होती थी।

उत्तर में भोट तिब्बत, दक्षिण में बिजनौर - सहारनपुर, पूर्व में कुमाउँ, पश्चिम में हिमाचल तथा उत्तर में हिमालय से आवृत, आज का गढ़वाल क्षेत्र संकुचित होकर उत्तरी अक्षांश 29.26° से 31.8° तथा 77.49° से 80.6° देशान्तर तक आवृत है। इसमें उत्तराखण्ड प्रदेश के पाँच जनपदों- टिहरी, उत्तरकाशी, पौड़ी, रुद्रप्रयाग और चमोली में गढ़वाली भाषा व्यवहार में लायी जाती है। इनके अतिरिक्त देहरादून तथा हरिद्वार जनपदों के कुछ भागों में भी गढ़वाली का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार गढ़वाली भाषा-भाषियों की संख्या 25 लाख के आसपास और क्षेत्रफल लगभग 31,000 वर्ग कि.मी. आंका गया है। इसके अतिरिक्त यदि जीविकोपार्जन के उद्देश्य से मैदानी प्रदेशों में कार्यरत गढ़वाली मूल के भाषा-भाषियों को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो गढ़वाली भाषा के प्रयोक्ताओं की संख्या अब तीस लाख से अधिक आँकी जाती है।

शब्द वैभव

गढ़वाली भाषा के शब्दों का व्यापक आधार रहा है। डोम, डूम या डोम्बर इस क्षेत्र की आदिवासी प्रजाति मानी जाती है जिनके कुछ वंशज जौनसार, रँवाई क्षेत्र और गढ़वाल के लगभग सभी गाँवों में आज भी विद्यमान हैं। कालान्तर में 'बिट्टों' (ब्राह्मण-क्षत्रिय) ने अपने लिए 'बिठाणा' और डोमों के लिए-'डुमाणा' दो अलग-अलग स्थान निर्धारित कर लिए। 'भील, भिल्ल, कोल, कोल्टा, मुंडा आदि भी यहाँ की मूल जातियाँ बताई जाती हैं, जो

निग्रिटो-ऑस्ट्रोलाइड प्रजाति से सम्बद्ध थीं। अमरकोश (1-11) में यक्ष, गंधर्व, किन्नर जातियों का उल्लेख है जिससे आभास मिलता है कि धूमिल अतीत में इनका भी आवास गढ़वाल क्षेत्र में था। स्कन्दपुराण के केदारखंड तथा रामायण एवं महाभारत में अनेक जातियों का उल्लेख है जिनमें तंगण, कुलिन्द, यामुन, कालकोटि, तामस, धर्मारण्य, भारद्वाज आदि प्रमुख हैं।

कोल, भील, मुंडा आदि से गढ़वाली में कृषि-मूलक, पशु-पक्षी, पशुपालन, विभिन्न अन्नो, साग-सब्जियों, फल-फूलों संबंधी अनेक शब्द आए। कई भौगोलिक शब्द, जैसे- 'डांडा-कांठा', 'गाड़', 'खाल', वानस्पतिक शब्द, यथा- 'दाड़िम', 'छेमी', 'टिमरू', 'तुमडू', 'तिमला', 'बेडू', 'रिंगाल', 'नर्यूल' इन्हीं जातियों की देन हैं। इनके अतिरिक्त अंधविश्वास, भूत, प्रेत, झाड़ा-ताड़ा संबंधी शब्द उपर्युक्त (आस्त्रिक) जातियों से ही लिए गए माने जाते हैं।

किरात जाति मध्य हिमालय के बड़े भाग में फैली थी। राहुल सांकृत्यायन कनौरी को किराती या उसी की एक शाखा मानते हैं जिसका 'सू' शब्द का प्रत्ययात्मक प्रयोग गढ़वाल के गाँव समूहों (पट्टियों) के लिए आज भी प्रयुक्त होता है, यथा- डबरालस्यूँ, बछणस्यूँ, असवालस्यूँ, सितौलस्यूँ, घुड़दौड़स्यूँ आदि। जौनसार में इस 'सू' शब्द का देवत्व सूचक प्रयोग 'महासू' द्रष्टव्य है। गढ़वाली में पूर्वकालिक कृतंत, जैसे- 'बोयूँ', 'मर्यूँ', 'बिगच्यूँ' - 'जायूँ', 'खत्यूँ' आदि को भी किरातों की ही देन बताया जाता है। इसी प्रकार के अन्य शब्द हैं- 'झंगोरो', 'काफल', 'किलमड़ो', 'दिदा', 'घुघुतु' आदि। गढ़वाली का बहुप्रयुक्त शब्द 'भुला' किरात भाषा के बो-लो या बा-लु से मिलता जुलता है।

भूमध्यसागरीय द्रविड़ जाति यद्यपि अब दक्षिण भारत में अधिक व्याप्त है परन्तु गढ़वाली में अनेक शब्द द्रविड़ मूल के हैं। देवनागरी की 'ट' वर्गीय ध्वनियों पर द्रविड़ प्रभाव माना जाता है। गढ़वाल की कुकरेती, चमोला, जोशी, डंगवाल, डिमरी, फरासी आदि कई ब्राह्मण जातियों को पं. हरिकृष्ण रतूड़ी ने द्रविड़ मूल का बताया है। गढ़वाली के कई शब्द द्रविड़ भाषाओं से साम्य रखते हैं, यथा- 'ब्वई' या 'ब्वे' (तमिल-अब्वई), 'कोट' (तमिल-कोट्टम्), 'काँठो' (कन्नड-कंठ), 'ओकाई' (तमिल-ओकाळम), 'कुटलो' (तेलगु-कूट्टु), 'कूड़ी' (तमिल-कुड़ि) आदि, डॉ. शिवप्रसाद डबराल 'पोकी', 'चिक', 'पूटू' आदि शब्दों को भी द्रविड़ मूल का बताते हैं। उनके

गढ़वाली भाषा : सामर्थ्य, प्रकृति और प्रवृत्ति

अनुसार नाड़ा, नाड तथा ड, डा, ड़ा, ड़ी, ड़, ड़ू आदि प्रत्ययान्त ग्राम-नाम भी द्रविड़ प्रभावित हैं। गढ़वाल में खश बड़े प्रभावशाली रहे परन्तु उनकी शब्दावली के प्रमाण बहुत कम मिलते हैं।

आर्यों के गढ़वाल में बसने के बाद उनमें कई शब्द यहाँ की भाषा में प्रविष्टि पा गए। शनैः शनैः असंख्य शब्द सामान्य जन की जुबान पर अभी भी रचे-बसे हैं, भले ही उनके उच्चारण और रूप में गढ़वालीकरण दृश्यमान हो। गढ़वाली का 'घीण' शब्द संस्कृत घृणा से व्युत्पन्न माना जाता है। ऐसे तत्सम एवं तद्भव शब्दों की गढ़वाली में लम्बी सूची है। फिर भी कुछ उदाहरण हैं - 'दोण' < द्रोण), पाथो' < प्रस्थ, माणों < मान, साट्टी' < षाष्टिक, घट्ट' < घराट, 'कीलो < कीलक, 'नौण' < नवनीत, 'बल्द' < बलीवर्द, 'मण्स' < मानुष, 'सरील' < शरीर, 'किसाण' < कृषाण, 'बरमंड' < ब्रह्मांड, बिथा' < व्यथा आदि। इस श्रेणी के कई तत्सम शब्द अपने गढ़वालीकृत (तद्भव) रूप में यहाँ के अभिन्न अंग बन चुके हैं। इसी प्रकार कालसूचक ('पोर', 'परार', 'परसे', 'परस्यू' < परश्व), स्थानसूचक अव्यय - 'यत्थ', 'इथै', 'वत्थ', 'उथै' < तत्थ' < यत्र-तत्र), ऋतुओं के नाम- 'बसकाळ' < वर्षाकाल, हयूँद' < हिमद) आदि कई शब्द संस्कृत की देन हैं।

तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों की गढ़वाली में अधिक संख्या है। इनमें से कई शब्द प्राकृत अपभ्रंश और हिन्दी के द्वारों से प्रविष्ट हुए। ये शब्द किस स्तर पर, किस काल में और कैसे निर्मित हुए, इसका निर्णय करना कठिन होगा। उनके निर्माण में स्थानीय जनजातियों और अनाथों के प्रभाव को भी अवहेलित नहीं किया जा सकता। परन्तु हमें यह तथ्य सदैव ध्यान में रखना होगा कि इस संबंध में गढ़वाली ने बड़ी उदार वृत्ति का परिचय दिया। यहाँ संस्कृत से लिए गए तत्सम तथा अन्य माध्यमों से गृहीत तद्भव शब्दों की सूची देना स्थानाभाव के कारण संभव नहीं होगा।

कई ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कारणों से गढ़वाली में आधुनिक आर्य भाषाओं के शब्द भी प्रविष्ट हुए। बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री, यमनोत्री, रूपकुंड, हेमकुंड, मानसरोवर आदि धर्म-स्थलों की यात्रा करने वाले असंख्य जन भारत के अन्य भागों से गढ़वाल क्षेत्र में समय-समय पर आते रहे। उनमें से कुछ यहीं बस गए। गढ़वाली युवावर्ग जीविकोपार्जन के लिए मैदानी प्रदेशों में गए और वहाँ से अनेक शब्द लेकर लौटे। मध्यकाल में मुसलमानों से

भयाक्रान्त राजपूत हिमालय की सुरक्षा में आए और अंततः यहीं के हो गए। गढ़वाल की कई पट्टियाँ-उदयपुर, अजमेर आदि उन्हीं की बसाई बताई जाती हैं। कई राजपूत जातियाँ- परिहार, परमार, चौहान, राणा, बिष्ट, पँवार, असवाल आदि राजस्थान मूल की कही जाती हैं। पं. हरिकृष्ण रतूड़ी ने इन राजपूत-ब्राह्मण जातियों का विवरण अपने 'इतिहास' में प्रस्तुत किया है। राजस्थान के अतिरिक्त गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब आदि प्रदेशों से संपर्क के कारण गढ़वाली में कई शब्द इन प्रान्तों के भी मिलते हैं।

मध्यदेश का एक भाग होने के कारण गढ़वाली पर सर्वाधिक प्रभाव हिन्दी और उसकी बोलियों- ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि का पड़ा। स्वाभाविक था कि इन बोलियों के शब्द गढ़वाली में प्रभूत संख्या में आए, जिन्हें गढ़वाली ने सहर्ष आत्मसात् कर लिया। इस संदर्भ में दरद भाषा का भी उल्लेख किया जाता है। 'दरद' का अर्थ है- 'पहाड़ी'। परन्तु दरद शब्दों की संख्या गढ़वाली में अधिक नहीं मिलती, भले ही कई विद्वानों ने इसे बढ़ा कर बताया हो।

गढ़वाली में विदेशी शब्द मुसलमानों और अंग्रेज़ी के प्रभाव से आए हैं। गढ़वाल पर मुसलमान शासकों का कभी शासन नहीं रहा, परन्तु अंग्रेज़ों के शासनकाल में यहाँ की कानून व्यवस्था उर्दू आधारित रही। कुछ जनसंपर्क से और कुछ कचहरियों के माध्यम से हजारों अरबी-फ़ारसी आदि के शब्द गढ़वाली में घुलमिल गए। अधिकांशतः गढ़वाली वृत्ति और प्रवृत्ति के अनुसार ध्वनि परिवर्तन भी आया है। ऐसे कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं-

इकत्यार (अख्तियार), अदौट (अदावट), करार (इकरार), खिजमत (खिदमत), जगा (जगह), जनानि (ज़नाना), दसकत (दशतखत), जैदाद (जायदाद), दरखास (दरख्वास्त), बैम (बहम), मुलाजु (मुलाहज़ा), फलाणु (फलाँ), रैम (रहम), ल्याज (लिहाज), ल्याकत (लियाकत) शैर (शहर), सौलियत (सहूलियत) आदि।

ध्यातव्य है कि गढ़वाल का एक बड़ा युवा वर्ग सेना में सेवारत रहा। यूरोपीय मिशनरियों ने गढ़वाल के कुछ क्षेत्रों में स्कूल खोलकर अंग्रेज़ी में शिक्षण प्रारंभ किया। नौकरीपेशा लोगों का भी बाहरी प्रदेशों से संपर्क रहा। फलतः गढ़वाली भाषा में अनेक विदेशी शब्दों की प्रविष्टि हुई। परन्तु अरबी-फ़ारसी शब्दों के ही समान विदेशी, (यूरोपीय) शब्दों में भी गढ़वाली की प्रकृति के अनुसार ध्वनि-परिवर्तन आ गया। उदाहरणतः -

गढ़वाली भाषा : सामर्थ्य, प्रकृति और प्रवृत्ति

इसकूल, सैंस (साइंस), इनसपेटर (इंस्पेक्टर), मासटर (मास्टर), लम्बर (नंबर) फुटबोल (फुटबॉल), कोरट (कोर्ट), पलटन (प्लाटून), कलट्टर (कलेक्टर), डिप्टी (डिपुटी), गिलास (ग्लास), फोटू (फोटो), लालटैन (लैंटर्न), मेटिंग (मीटिंग), पिनसिन (पेंशन), डरैबर (ड्राइबर), टरक (ट्रक) आदि।

देशज या स्थानिक शब्द

असंख्य शब्द अन्य प्रदेशीय, वैदिक, छंदस्, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा विदेशी भाषाओं से लेने तथा अपनी वृत्ति के अनुसार औदार्य दिखाते हुए अपने में आत्मसात् करने के उपरान्त भी गढ़वाली शब्द-भंडार का एक तिहाई से अधिक भाग देशज है जिनका स्रोत अन्य भाषाओं में नहीं मिलता। ऐसे असंख्य शब्दों की व्युत्पत्ति देना भी दुष्कर है। उदाहरण के लिए कुछ स्थानिक शब्द द्रष्टव्य हैं जिनके पर्याय या समभावी शब्द हिन्दी या अंग्रेज़ी भाषा में मिलना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है-

अग्यालु, औल्याण, कलकळी, करखुला, खुद, गुट्यार, गोठ, चड़म, द्याण, चुकापट्ट, छमोट, झणी, टुक, ठुँगार, डांडा, ठाँगुरु, तातु, दुत्ती, द्यार, धुंयाल, निसपरै, नवांग, पासा, पछिंडी, फिरड़ा-फिरड़ी, बिलकुणु, बुखाण, ब्याखुन, माबत, मौळ्यार, ढाकर, ढाकरि, रुणपित्ये, लट्याली, लगलि, लोलि, लुणमुण, समलौण, स्वटगि, स्वाणि आदि।

देशज या स्थानिक क्रियापद गढ़वाली भाषा की एक विशेषता है। इन क्रियाओं की व्युत्पत्ति देकर इनका स्रोत निर्धारित करना भी आसान नहीं है। ऐसे कुछ विशिष्ट क्रियापद निम्नवत् हैं -

हरचण (गँवाना, खोना), बुजण (बन्द होना), भट्याण (बुलाना), घटण (गाढ़ना), बाण (हल लगाना), बोकण (बोझ उठाना), जग्वालण (प्रतीक्षा करना), ग्वाड़ण (कमरे में बन्द करना), तचण (गर्म होना), खँडण (मिलाना, घोटना), विरौण (अलग करना, छाँटना), मलासण (सहलाना), सोरण (झाड़ू लगाना), ग्वाड़न (अंदर बंद करना), लोसण (घिसटते हुए ले जाना), लुछण (बलात् छीनना), लुकण (छिपना), सांटण (परस्पर विनिमय करना), सनकौण (संकेत करना), तड़कण (दरार पड़ना), बगण (बहना), सकण (भार उठाने की शक्ति होना), खतण (गिराना), मठाण (बर्तन माँजना), खण्यौण (एक

बर्तन से दूसरे में डालना), झुरण (मन ही मन दुखी होना), हिटण (चलना) आदि।

एक पर्वतीय भाषा होने के कारण गढ़वाली में पर्वतों की ऊँचाई, उतार, चढ़ाव, समतल भूमि, आवास योग्य स्थल संबंधी अनेक शब्द हैं। गढ़वाल के अधिकांश गाँव ऐसे ही स्थलों पर बसे हैं, जिनसे उनके स्थानवाचक नाम भी पड़े। ऊँचाई पर उपलब्ध कुछ समतल सी भूमि पर बसे गाँव सऽर/सार' या 'खेड़ा/ख्याड़ा' नाम दिया गया। इस नाम के कई गाँव गढ़वाल में मिलते हैं। बड़े-बड़े समतल क्षेत्र 'सैण' कहलाते हैं, जैसे 'गैरसैण', 'चेलूसैण', 'थलीसैण' आदि। दो नदियों के संगम के पास वाला गाँव 'ड्वाबा < दो आबा' (आब = नदी) है। विस्तृत भू-भाग में फैला पहाड़ 'डाँडा' है और उनका शिखर 'काँठा', तो छोटी-छोटी चोटियाँ 'चुलंखी'। पर्वतों के ऊपर कुछ सपाट सी लंबी पट्टी को 'धार' कहते हैं। ऐसे धारों पर बसे गावों का 'धारी' नाम रखा जाता है। गढ़वाल में कई 'धारी' नामक गाँव हैं। यही स्थिति 'धार' नाम की भी है, जिनकी संख्या भी अधिक है। धारों या दो पहाड़ियों के बीच का समतल क्षेत्र 'खाल' कहा जाता है, जहाँ कुछ परिवार अपना आवास बना लेते हैं। उल्लेख्य है कि गढ़वाल-कुमाउँ में 'खाल' प्रत्ययान्त कई बस्तियाँ हैं जो अब सीमित रूप में व्यापारिक केन्द्र भी बन गए हैं, यथा-पौखाल, द्वारीखाल, गूमखाल, बुवाखाल आदि। इसी क्रम में दुर्गंध युक्त और घिरे हुए निर्जन से स्थान को भी 'खाल' कहा जाता है, जो कूड़ा-करकट फेंकने, मृत पशुओं को डालने अथवा कभी-कभी शौचादि के लिए भी प्रयोग में लाया जाता है। इनमें 'ल' तथा 'ळ' का अंतर है।

समस्त पर्वतीय क्षेत्र पहाड़ों से आवृत है। ऐसे पहाड़ों के नीचे तीव्र ढलान को 'भेल' या 'भ्याळ' कहा जाता है। इन 'भ्याळों' पर बड़े वृक्ष कम ही पनप पाते हैं, परन्तु घास का प्राचुर्य होता है। इस घास को पशुओं को खिलाने के लिए काटने गई कई युवा महिलाओं या किशोरियों की तनिक लापरवाही से फिसलने और गिरते-उठते फिर फिसलते-लुढ़कते हुए अपने प्राण बचाने की सहायता के लिए निकली भयंकर चीत्कार और करुण क्रंदन दिल दहलाने वाला होता है। इस प्रकार ही असहाय, निर्मम और अकाल मृत्यु की कई दुर्घटनाएँ पहाड़ों में पहले अधिक हुआ ही करती थी।

इसी प्रकार इन भ्याळों में प्रचुरता से उपलब्ध घास चरने गए पशुओं

गढ़वाली भाषा : सामर्थ्य, प्रकृति और प्रवृत्ति

का संतुलन बिगड़ने पर भी नीचे की ओर लुढ़कते हुए अपनी रक्षा के लिए किए गए हृदय विदारक 'ऐड़ाट' को सुनकर कौन नहीं विचलित होगा। पहाड़ में ऐसे अनेक भ्याळ हैं, जिनके छोटे आकार या एक भाग को 'पाख' कहा जाता है। जिस पक्ष पर धूप लगती है उसे 'तैलु' (तप्तिल) और जिस तरफ धूप नहीं आती उसे 'सिल्लु' कहा जाता है। 'धालडु' पहाड़ का ढलवाँ कुछ उठा हुआ भाग है। 'छोया' या 'छ्वाया' 'बसकाळ' (वर्षाकाल) के समय अकस्मात् उदभूत अल्पकालीन जलस्रोत है।

गढ़वाल ही नहीं, समस्त पार्वत्य प्रदेशों में प्राणदायक नदियों, नदों और यहाँ तक कि छोटे-छोटे 'गाड़ों' का बाहुल्य और अति महत्त्व है। उन्हें गंगा की ही भाँति पवित्र पाना जाता है। गोमुख से उदभूत भागीरथी के अतिरिक्त नित प्रवाहित होने वाली अधिकांश बड़ी नदियों को भी 'गंगा' नाम दिया गया है, यथा- रामगंगा, विष्णुगंगा, बाँणगंगा आदि। अनेक धार्मिक अनुष्ठान या सांस्कारिक क्रियाएँ इन्हीं छोटी-बड़ी नदियों के तट पर संपन्न होती हैं। आकार, वेग और स्थिति के आधार पर नदियों के गढ़वाली में अनेक नाम हैं। सामान्य नदी 'नद्दि' है। छोटी नदियाँ 'गाड़', 'रौलु', 'गदरी', 'गधेरू', 'गध्यारू' आदि नामों से जानी जाती हैं। जब नदी बिल्कुल सूख जाय तो जल विहीन कंकर-पत्थर वाला भू भाग 'रगड़' कहलाता है। ध्वनि, गूँज, उपादेयता और पानी के आयतन तथा गहराई और बहाव की आवृत्ति के आधार पर भी कई नाम हैं। दो घाटियों के मध्य भयावह डरावनी गूँज पैदा करने वाली बड़ी नदी 'गदन' है। अन्य गीतात्मक नामों में 'गदरू', 'गदेरू', 'गाड़' सुनने में संगीतात्मक लगते हैं। संभवतया इसीलिए गढ़वाल के प्रथम कमिश्नर वाल्टन ने गढ़वाली बोलियों को स्कॉटलैंड की भाषा के सदृश 'सिंग सौंग' बताया होगा। बहती नदी में कई स्थलों पर बहुत गहरी 'रौ' या 'ढाँडि' बन जाती हैं, जिनमें पर्याप्त संख्या में विभिन्न प्रजाति की मछलियाँ भी पाई जाती हैं। गढ़वाल क्षेत्र की कई प्रवाहमान नदियों में दुर्लभ 'ट्रॉट' प्रजाति की मछलियाँ भी मिलती हैं जो देश-विदेश के शिकारियों के आकर्षण का केन्द्र हैं।

गढ़वाली में दिशा-द्योतन या बोधन उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम की अपेक्षा 'उंद' (उतार) या 'उब्ब' (चढान) वाचक शब्दों द्वारा किया जाता है। इनके लिए कई पर्यायवाची हैं। 'उंदार' (ढलान) वाले भू-भाग के लिए 'उंद', 'उँदाँ', 'उँदै', 'उँदौ', 'उँदार', 'उतार', 'निस्स', 'ढिस्स', 'ढिस्वाळ', 'ब्यड़',

‘ब्येड़’, ‘बिल्या’, ‘बेल्यु’, ‘बिलार’, ‘मूड’, ‘मुड़ि’, ‘मुडूया’, ‘तऽळ’, ‘तल्ला’, ‘तल्लि’, ‘तलतिर’, ‘तिराळ’, ‘थरी’ आदि उनके शब्द हैं। इसी प्रकार ऊँचाई वाले क्षेत्र के द्योतक कुछ शब्द हैं। - ‘उब्ब’, ‘उब्बै’, ‘उबाँ’, ‘माथि’, ‘उकै’, ‘उँचै’, ‘मात्थि’, ‘माथें’, ‘मळतिर’, ‘मल्ला’, ‘मालि’, ‘मुल’, ‘मैलु’, ‘ढीस’, ‘ढिगड़’ आदि। मध्य स्थिति दर्शाने के लिए ‘बिचला’ या ‘बिचुलु’ शब्द है। इधर और उधर इंगित करने के लिए क्रमशः ‘इनाँ’ और ‘उनाँ’ या ‘इथें’ और ‘उथें’ कहा जाता है।

सामर्थ्य

गढ़वाली भाषा में नए शब्द-निर्माण की विलक्षण शक्ति है। यहाँ अधिकांश मूल शब्द द्वीक्षरी या त्रिअक्षरी हैं। संज्ञा शब्दों तथा क्रियाओं के साथ उपसर्ग, परसर्ग, प्रत्यय आदि के योग से अनेक अतिरिक्त शब्द निर्मित हो जाते हैं। डॉ. रघुवीर ने अपने ‘ए कॅम्प्रीहेंसिव इंग्लिश-हिन्दी डिक्शनरी’ के लिए 520 धातु, 20 उपसर्ग और 80 प्रत्ययों की सहायता से अनगिनत नए शब्द बनाए थे। गढ़वाली में एक शब्द विभिन्न प्रत्ययात्मक प्रयोगों द्वारा अनेक अर्थों का द्योतक बन जाता है, उदाहरणतः- ‘उच’ से ‘उच्चां (ऊँचा), ‘उचकौण’ (उकसाना), ‘उचाट’ (विरक्ति), ‘उचै’ (ऊँचाई), ‘उच्यौण’, ‘उचाण’ (ऊँचा करना), ‘उचेड़ण’ (नोचना) ‘उचाणु’ (देवता की मनौती के लिए पूर्व में रखा गया द्रव्य आदि।

संज्ञापदों से निर्मित कई धातुपदों में व्यवहारगत सरलता, भाव की चित्रात्मकता, और बोधगम्यता की कुछ बानगी द्रष्टव्य है - ‘सिंग्याणु’ (सींग से मारना), ‘धद्याणु’ (ऊँची आवाज देकर बुलाना), ‘चुंगन्याणु’ (धीरे-धीरे कण-कण उठाकर खाना), ‘क्वीनाणु’ ‘क्वीन’- (कोहनी) से एक ओर धकेलना), ‘सबलाणु’ (सबल मारकर पत्थर बाहर निकालना) आदि अनेक नाम धातुएँ गढ़वाली को अप्रतिम बनाती हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि शब्दसामर्थ्य और अर्थ-गौरव की दृष्टि से गढ़वाली एक समृद्ध भाषा है। इसकी शब्दरचना में अनुकरणमूलकता, ध्वन्यात्मकता, मनोभावाभिव्यक्तिजनक व्यंजकता, अनुरणनात्मकता, सृजनात्मकता आदि प्रवृत्तियों का अद्भुत मिश्रण है। प्रकृति का विशिष्ट परिवेश, विकट जलवायु और कठिन परिस्थितियों में विकसित इस भूभाग के

गढ़वाली भाषा : सामर्थ्य, प्रकृति और प्रवृत्ति

असंख्य शब्द ध्वनि आधारित हैं। शरीर के अंगों में होने वाली पीड़ा, प्रतिक्रियाएँ, शारीरिक हाव-भाव, आन्तरिक अनुभूतियों के प्रतीक ध्वनिचित्र गढ़वाली को विशिष्टता प्रदान करते हैं। ध्वन्यात्मक प्रभावोत्पादकता के लिए 'थ्यच्च' (हथौड़े की उंगलियों पर पड़ने व तद्जनित पीड़ा की ध्वनि), 'घप्प' (तेज नुकीले हथियार से घोपने की ध्वनि), 'पुट्ट' (नाखूनों से जुँए मारने की ध्वनि), 'छप्प' (पानी में किसी वस्तु को फेंकने से उत्पन्न आवाज), 'छल्ल' (गागर से पानी छलकने की ध्वनि) आदि अनेक शब्द ध्वन्यात्मक अर्थबोधिता के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। किसी विशिष्ट भाव या वस्तु की परुषता, कोमलता, कर्कशता, गत्यात्मकता एवं गिरने या टकराने को व्यक्त करने के लिए गढ़वाली में 'फच्च', 'फत्त', 'पटाक', 'भत्त', 'छुस्स', 'छराक', 'तराक', 'कळकळी', 'छपछपी', 'उचमुचि', 'सपुडा-सपोड़', 'घचपच', 'चड़म', 'खितखित', 'धुकधुकी', 'चस्स', 'रैण', 'बबराट', 'खुद' आदि अनेक समर्थवान शब्द हैं।

गढ़वाली में सूक्ष्म भावों, रूप, रस, स्वाद, गंध, प्रकृति के नानाविध कार्यकलापों, पशु-पक्षियों की चर्या आदि संबंधी शब्दों का प्रचुर भंडार है। 'आँण', 'आट' प्रत्ययों के योग से निर्मित अनेक गंध और स्वाद के द्योतक शब्दों की बहुत चर्चा होती है। 'भिबड़ाट', 'ममलाट', 'भबराट', 'किराट', 'कबळाट', 'कँड़ाट', 'पपड़ाट', 'ततड़ाट', 'कबताट' विशिष्ट भाव, स्थिति या अवस्था प्रकट करते हैं। गढ़वालियों की विलक्षण घ्राण-शक्ति की प्रतीति यहाँ उपलब्ध अनेक गंध-सूचक शब्दों से होती है। 'जल्याण' या 'फुक्याण' तो सामान्यतः जलने से उत्पन्न महक है। 'कुतराण' सूती वस्त्रों के जलने की गंध है तो 'किकराण' ऊनी वस्त्रों की। मिर्च या किसी तीखी वस्तु के जलने की गंध 'खिकराण', सड़े हुए अनाज से आने वालो बदबू 'कौँखाण', या 'खुमसाण', घी जलने की गंध 'चिलखाण', छौँक या भूटने की गंध 'भुटाण' है। 'सड्याण' तो सभी दुर्गन्धयुक्त पदार्थों से आती है। बालों के जलने से आने वाली गंध 'किंड़ाण' है।

यही नहीं, अनेक संज्ञा शब्दों को भी 'आण' प्रत्ययान्त बनाकर उनकी गंध का परिचायक बना दिया जाता है, यथा-मछली से 'मछल्याण', कुकुर (कुत्ता) से 'कुकराण', गू (मल) से 'गुवाण', मूत्र से 'मुताण', घी से 'घियाण' ज्वर से 'जराण', तेल से 'तेलाण', दूध से 'दुधाण', अधोवायु से 'पदाण' पीतल के बर्तन में अधिक देर तक रखने से 'पितलाणा', बकरियों से बखराण', भैसों

से 'भैस्वाण', मिट्टी से 'मटाण', हल्दी से 'हलद्याण', मोळ (गोबर) से 'मोळण' आदि अनेक इस प्रकार के शब्द निर्माण करने की क्षमता गढ़वाली में है। विभिन्न गंधों के द्योतक कई शब्दों की विद्यमानता को देखते हुए ऐसा आभास मिलता है कि यहाँ के वासियों में गज़ब की 'सूँघवृत्ति' है।

इसी क्रम में विभिन्न प्रकार के स्पर्शानुभवों के वाहक कई शब्द गढ़वाली में मिलते हैं, जो किसी व्यक्ति के स्वभाव या वस्तु की कोमलता, कठोरता आदि गुणों के बोधक हैं। ऐसे कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं - अकड्यूँ (अकड़ दिखाने वाला), कड़कड़ो (सूखा, प्राणहीन), गदगदों (मोटा और मुलायम), गिंजगिंजों (कीचड़युक्त, गीला), चिपचिपु (चिपकने वाला), चिफळु (फिसलनेवाला), चस्सु (अति शीतल), टंगटंगु (कड़क स्वभाव वाला), छसाक् (किसी नुकीली वस्तु से उत्पन्न चुभन), तातु (ऊष्ण), ठसाक/ढसाक (स्पर्श द्वारा लगाया गया हल्का धक्का) आदि।

स्वाद-बोधक शब्दों में खट्टु (खट्टा), मिट्टु (मीठा), लुण्यौं (अधिक नमक वाला), मर्चण्यौं (अधिक मिर्च वाला), चलमलु (स्वादिष्ट और मुलायम), कडकसलु (कड़वा और कसैला) कसल्याणों (कसैले स्वाद वाला), बरबरू (तीखा), तीतु (कड़वा), चटपटु (चटपटा) फकफकु (जो कठिनाई से निगला जाय) सामान्य स्वाद वाले शब्द हैं। अस्वादिष्ट खाद्यपदार्थों के लिए भी यहाँ अनेक शब्द मिलते हैं, जैसे- घतमतु, गंडखण्यौं, टरटरु, मलमलु, करच्या, कलचण्यौं, कतमतु, फोकल आदि। किसी पदार्थ को बार-बार खाने से उसके प्रति होने वाली अरुचि 'बिकलाँण' और 'असंद' हैं।

पर्याय

पर्याय भाषा की समृद्धि के द्योतक होते हैं। प्रख्यात भाषाविद् ब्रील का कथन है कि जो जाति जितनी अधिक समृद्ध होगी और उसमें जितने अधिक पर्याय और शब्दावली में भेदीकरण होंगे, वह भाषा उतनी ही ज्यादा सशक्त और संपन्न मानी जाएगी। गढ़वाली में ऐसे पर्यायों का बाहुल्य है। किसी सीमित या संकुचित स्थान अथवा ठोस वस्तु में सप्रयास कुछ घुसाने (*Pierce, penetrate*) के लिए गढ़वाली में 'पुण्यौंण', 'क्वचण', 'ट्वसण', 'घ्वसण', 'छिराण', 'धसाँण', 'पुठाँण' आदि कई क्रियापद हैं। खाने की प्रक्रियाओं के लिए 'खाँण' के अतिरिक्त 'भकोरण', 'भकोसण', 'घुळण', 'घटकाण',

गढ़वाली भाषा : सामर्थ्य, प्रकृति और प्रवृत्ति

‘गबळ्योण’, ‘घपकौण’, ‘सपोड़ण’, ‘चुंगन्याण’, ‘मचळ्योण’ आदि अनेक क्रियाएँ हैं। अरबी मूल का ‘शरारत’ शब्द हिन्दी में बहुप्रचलित है। इसके वैशेषणिक प्रयोग के लिए गढ़वाली में ‘बिगच्चूँ’, ‘खत्तूँ’, ‘उगट्टूँ’, ‘जायूँ’ आदि अनेक कृदंत हैं। गढ़वाली में महिलाओं के हाव-भाव, नाज-नखरे, सजावट और दिखावे की प्रवृत्ति (*coquetry*) के लिए यहाँ नखर्याट’, ‘छकनाट’, ‘नकच्याट’, ‘खकच्चाट’, ‘लबड़ाट’, ‘छकयाद’, ‘कतड्याट’, ‘रमकदि-छमकदि’ आदि शब्द हैं। इसी प्रकार मारने-पीटने के लिए ‘ध्वचण’, ‘धसकाण’, ‘फचोरण’, ‘भतकाँण’, ‘लट्याण’, ‘चमकाण’, ‘ध्वकण’, ‘डमकाँण’, ‘बिलकण’, ‘मचोड़ण’ आदि क्रियापद हैं। इस शैली के पर्यायों का गढ़वाली में बाहुल्य है जो संभवतया अन्य भाषाओं में विरल ही मिलते हों।

विशद शब्द-संपदा के होते हुए भी इस तथ्य को पूर्णतया अवहेलित नहीं किया जा सकता कि गढ़वाली भाषा में गंभीर बौद्धिक चिन्तन, साहित्यिक विश्लेषण, अन्वेषण, शोध, समालोचना गहन वैचारिक मंथन, ज्ञान-विज्ञान, विधि, औषध, धर्म, दर्शन, क्रीड़ा, मनोरंजन, आवागमन, राजनीति, सूचना-प्रौद्योगिकी, तकनीकी आदि कुछ विषयों से संबद्ध शब्दावली की न्यूनता या अभाव है।

उद्गम एवं प्रभाव

गढ़वाली के भाषागत रूप पर सर्वप्रथम सन् 1893 में पादरी ए.एस. केलॉग ने ‘ए ग्रामर ऑव दि हिन्दी लैंग्वेज़’ के द्वितीय संस्करण में प्रकाश डाला। वे गढ़वाली-कुमाउँनी-नेपाली को हिमालयन डाइलेक्ट्स के अंतर्गत रखते हुए राजस्थानी के निकट मानते हैं, परन्तु अन्ततोगत्वा वे इसे हिन्दी की ही एक विभाषा के रूप में समझने लगे। डॉ. जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने प्रथमतः सन् 1914 में इंडियन एंटीक्वेरी पत्रिका के एक लेख और बाद में अपने सुप्रसिद्ध भाषा सर्वेक्षण (सन् 1894-1927) के जिल्द 9, खंड 4 में ‘मध्य पहाड़ी’ के अन्तर्गत रखते हुए गढ़वाली को पिशाच, दरद और खस भाषा से जोड़ा है। इसी संदर्भ में वे गूजरी की उपबोलियों, यथा- मेवाती, मेवाड़ी जैसी पूर्वी राजस्थानी से भी गढ़वाली का साम्य मानते हैं। इसकी पृष्ठभूमि में संभवतया इन दोनों भाषाओं में ‘ण’ और ‘ळ’ ध्वनियों की प्रधानता और अस्तित्ववाची सहायक क्रिया ‘छ’ (है, होना) की विद्यमानता रही होगी।

ग्रियर्सन से आंशिक असहमति रखते हुए डॉ. सुनीतिकुमार चाटुज्या गढ़वाली का स्रोत खसखुरा तथा दरद प्राकृत से अंशतः स्वीकारते हैं। वैसे उन्होंने अपने वर्गीकरण (उदीच्या, प्रतीच्या, मध्य देशीया, दक्षिणात्या आदि) में मध्य पहाड़ी को कोई स्थान नहीं दिया। डॉ. हरदेव बाहरी गढ़वाली के ध्वनि-तत्त्व, व्याकरण और शब्दावली की जटिलता को देखते हुए उसे कश्मीरी, पश्तो या दरद भाषाओं के निकट मानते हैं। डॉ. गुणानन्द जुयाल भी राजस्थानी के ही पक्षधर हैं, साथ ही अनेक शब्दों का दरद भाषा से साम्य बताते हुए गढ़वाली पर दरद का प्रभाव भी मानते हैं। प्रकारान्तर से उन्होंने पश्चिमी हिन्दी और शौरसेनी को भी गढ़वाली का स्रोत बताया।

भाषाविदों का एक प्रमुख वर्ग गढ़वाली को शौरसेनी प्रसूत मानता है। गढ़वाली का 'उ'कार बहुला होना उसका एक प्रमुख कारण है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, डॉ. उदय नारायण तिवारी, डॉ. केशवदत्त रुवाली, डॉ. भोलाशंकर व्यास, डॉ. गोविन्द चातक आदि कई विद्वान गढ़वाली को शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश से किसी न किसी रूप में जोड़ते हैं। इसकी पृष्ठभूमि में रूडॉल्फ हार्नले की संभवतया वह मान्यता थी कि आर्यों के दो दल भिन्न-भिन्न कालखंडों में अलग-अलग मार्गों से भारत आये और तदनुसार उत्तर भारत में दो प्रभावशाली प्राकृत-अपभ्रंश (शौरसेनी और मागधी) विकसित हुए। वर्तमान में यही मत अधिक ग्राह्य है कि गढ़वाली भाषा ध्वनि, शब्द-समूह, संरचना और वाक्य-विन्यास की दृष्टि से शौरसेनी अपभ्रंश के अधिक निकट है।

स्वरूप और विकास

गढ़वाली भाषा के मूल स्वरूप के संबंध में निश्चिततः कोई निर्णय लेना कठिन होगा। मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक 'साइंस ऑफ़ लैंग्वेज' में गढ़वाली को एक स्वतः स्फूर्त प्राकृतिक भाषा माना है। कैप्टन शूरवीर सिंह तथा पं. हरिराम धस्माना इसे वैदिक संस्कृत से प्रसूत समझते हैं। डॉ. हरिदत्त भट्ट 'शैलेश' गढ़वाली का स्रोत छांदस् से संबद्ध करते हुए इसे स्वतंत्र रूप से विकसित भाषा मानते हैं। श्यामचन्द नेगी तथा चन्द्रमोहन रतूड़ी आदि भी इसे स्वयं पल्लवित भाषा घोषित करते हैं।

भौगोलिक, ऐतिहासिक और नृवंशीय तत्त्वों के आधार पर कहा जा सकता है कि गढ़वाली भाषा के स्वरूप की आधारीक भित्ति यहाँ की आस्त्रिक

गढ़वाली भाषा : सामर्थ्य, प्रकृति और प्रवृत्ति

परिवार की आदिम निग्रिटो ऑस्ट्रोलाइड, आग्नेय अथवा तिब्बत-बर्मी जनजातियों, यथा- डोम, कोल, भिल्ल जातियों की बोलियों पर निर्मित है, जिस में कालान्तर में अनेक अनार्य जातियों, जैसे-तंगण, कुणिन्द, किन्नर, किरात आदि ने अपना योगदान भी किया। आर्यों के आगमनोपरान्त वैदिक, छंदस्, संस्कृत, पालि, प्राकृत अपभ्रंश ने उसके स्वरूप को सँवारा। मध्यकाल में अनेक आधुनिक आर्य भाषाओं और अंततः खड़ी बोली (हिन्दी) ने उसके शब्द-गठन और वाक्य-विन्यास को ढालने में सहायता की।

गढ़वाली का आदि स्वरूप मौखिक रूप से यहाँ के अपार लोकसाहित्य तथा जागर, पँवाणों आदि में मिलता है। लिखित रूप के कुछ खंडित अंश विभिन्न प्रस्तरों पर अंकित आदेशों, लेखों, सिक्कों, दानपत्रों, राजाज्ञाओं आदि में उपलब्ध हैं। इसका प्राचीनतम नमूना देवप्रयाग स्थित मंदिर में राजा जगतपाल के दानपत्र में मिलता है, जिसका समय सन् 1365 के आसपास है। तदनन्तर कुछ साहित्यिक कृतियों का निर्माण हुआ। परन्तु गढ़वाली भाषा का वास्तविक स्वरूप और प्रारंभ सत्यशरण रतूड़ी के 'उठा गढ़वालियों' कविता (सन् 1905) से ही माना जाता है।

गढ़वाली ध्वनियाँ

गढ़वाली की ध्वनि-संपत्ति उसे अन्य भारतीय आर्य भाषाओं के समान संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के माध्यम से प्राप्त हुई। विशिष्ट ध्वन्यात्मक वातावरण की पृष्ठभूमि में यहाँ स्वरों का अति महत्त्व है। वस्तुतः गढ़वाली एक स्वर प्रधान भाषा है। यहाँ अ ध्वनि के चार; आ के तीन; इ, ई, उ के दो, ऊ, ए के तीन; ऐ के चार; ओ के तीन; तथा औ के दो-तदनुसार 25 ध्वनि रूप ठहरते हैं, जो ह्रस्व, अति ह्रस्व, अति दुर्बल, अश्रव्य से फुसफुसाहट युक्त, प्लुत, अति प्लुत, विवृत अर्ध-विवृत, संवृत, अर्ध संवृत, वर्तुल आदि कई तरीके से उच्चरित होते हैं। 'घर' और 'डर' जैसे दोनों अकार शब्दों के छह उच्चारण रूप मिलते हैं, यथा- घर्, घर, घऽर, घार, घैर, घौर तथा इसी प्रकार डर्, डर, डऽर, डार, डैर, डौर।

उल्लेखनीय है कि गढ़वाली में अ की दीर्घ ध्वनि अऽ भी है, जिसे अ के आगे अवग्रह चिह्न ऽ (अंग्रेजी का S) लगा कर द्योतित किया जाता है। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ के प्लुत, अतिप्लुत या विलंबित - विश्रान्ति, ठहराव तथा

संबोधन में भी इस चिह्न का प्रयोग होता है। वेदों में इसका प्रयोग है परन्तु संस्कृत व्याकरण में स्वीकृत (उकालोऽजूह्रस्व दीर्घ प्लुतः - 1 - 2 - 27, अष्टाध्यायी) होते भी संस्कृत, प्राकृत, खड़ी बोली आदि में इसका की अंकन नहीं है साथ ही कुमाउँनी में भी नहीं। परन्तु अपभ्रंश, भोजपुरी और हिन्दी की कई बोलियों में यह चिह्न विद्यमान है। यह ध्वनि न होकर एक मंद स्वर (neutral vowel) है।

गढ़वाली में 'ऽ' चिह्न का प्रयोग बहुलता से मिलता है। इसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति से शब्द के अर्थ में अन्तर आ जाता है, यथा - 'बड़' (बट वृक्ष का नाम), बऽड़ (बड़ा), बऽऽड़ (बछड़ा);, खड़ (खड़ा), खऽड़ (घास, पात, खर-पतवार); कँण (तृण), कँऽण (कराहना) आदि। कहीं-कहीं यह संबंध कारक विभक्ति के रूप में भी प्रयुक्त होता है, जैसे - तिमलाऽ फूल (चिन्मय सायर के काव्य संग्रह का शीर्षक), कमेड़ाऽ आखर (बीना बैजवाल का कविता संग्रह)। अन्यत्र इसे विशेष बल या समूह में किसी एक ही वस्तु या जीव पर ध्यान आकर्षित करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है, यथा-'ईऽऽ गौड़िन खै उज्याड़' (केवल इसी गाय ने, और किसी अन्य ने नहीं, खेत को चरा है), 'याँऽऽ' (जरा ध्यान से सुनो), 'वाँऽऽ' (जरूर, भूलना मत)। दूरस्थ व्यक्ति को संबोधित करने के लिए यह चिह्न मूल ध्वनि के साथ जुड़ता है, जैसे- हेऽऽ! ओऽऽ! आदि।

यद्यपि 'ऋ' स्वर गढ़वाली वर्णमाला के अन्तर्गत आता है, परन्तु इसका प्रयोग सामान्यतः तत्सम शब्दों तक ही सीमित है। वाचन और बोलचाल में इसका उच्चारण 'रि' की तरह होता है।

गढ़वाली में स्वरों के आधिक्य और वैभिन्न्य के कारण यहाँ की भाषा में उच्चारणगत वैविध्य आ गया है। वही शब्द अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न स्वर-शैली, स्ट्रेच, स्ट्रेस, टोन, 'ढौळ', लहजा, बलाघात और तान से बोला और लिखा जाता है। विकट और विषम भौगोलिक परिस्थितिजन्य कारणों तथा पारस्परिक संपर्क के अभाव से प्रत्येक इलाका अपनी ही 'बोली' को प्राथमिकता देता है। रवाँई क्षेत्र में 'अ' ध्वनि को अंग्रेजी के '0' या बंगला के 'अ' के सदृश मुँह को गोलाकार (संवृत) करते हुए बोला जाता है। इससे गढ़वाली शब्दों में अनेकरूपता विद्यमान है।

गढ़वाली में व्यंजन वर्ण हिन्दी के ही समान है, परन्तु इनमें भी कहीं

गढ़वाली भाषा : सामर्थ्य, प्रकृति और प्रवृत्ति

कहीं व्यतिरेक मिलते हैं। ड; ज और ण अनुनासिकों का गँ, यँ तथा ङँ उच्चारण भी मिलता है। न-ण, स-श-ष ऊष्म ध्वनियों तथा र-ड़, ब-व में स्वच्छन्दता से स्थानापन्नता की प्रवृत्ति है। किसी-किसी क्षेत्र में संयुक्ताक्षर क्ष-त्र-ज्ञ भी क्रमशः क्स, त्र, ग्यँ उच्चरित होते हैं। न्ह, म्ह, ल्ह महाप्राण ध्वनियों की देखा-देखी कुछ अतिशुद्धतावादी गढ़वाली लेखक 'च्ह' (सच्हा), 'ज्ह' (ज्हैर), 'भ्ह' (भ्हैर), 'र्ह' (र्हैण), 'व्ह' (व्हैक), 'स्ह' (स्हैज), 'द्ह' (पद्ह) सदृश सप्रयास प्रयोगों के द्वारा अनेकरूपता को अधिक हवा देते हैं। यहाँ 'ण' और 'ळ' ध्वनियों की भी प्रधानता है।

अनेक स्थलों पर अघोष और सघोष वर्णों का स्वच्छन्दतापूर्वक विनिमय हो जाता है, उदाहरणार्थ-

अचकाल - अजकाल (च-ज)

अटकण - अटगण (क - ग)

निपटण - निबटण (प - ब)

बसकाळ - बसगाळ (क - ग)

इसी प्रकार अल्पप्राण और महाप्राण ध्वनियों में भी पारस्परिक स्थानापन्नता है, यथा -

दूद - दूध (द - ध)

बाग - बाघ (ग - घ)

भीक - भीख (क - ख)

स्थितिवाचक प्रमुख वर्तमानकालिक सहायक क्रिया 'होना' (है) के लिए 'छ' प्रयुक्त होता है, परन्तु इसके लिए तीन अन्य रूप भी मिलते हैं - 'च', 'चा' एवं 'छा'। गढ़वाली भाषा में विविधता का यह भी एक अन्य कारण है।

ध्वनि प्रकृति और प्रवृत्ति

गढ़वाली में अ-आ, इ-ई, तथा उ-ऊ स्वर ध्वनियों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, अति प्लुत और अवग्रह चिह्न 'ऽ' के कई उच्चारण मिलते हैं। उल्लेख्य है कि ये सभी ध्वनि-वर्ग आपस में स्थानापन्न हो जाते हैं। इससे भी भाषा में विविधता आती है। कुछ क्षेत्रों में ह्रस्वत्व तो अन्य में दीर्घत्व की प्रवृत्ति मिलती है। समरूपता नहीं है। ए, ऐ, ओ, और औ का उच्चारण और तदनुसार वर्तनी कहीं-कहीं क्रमशः ये, अइ, वो, अऊ/आऊ/आवु के रूप में भी मिलती है।

गुणाधिक्य, मात्राधिक्य, आश्चर्य, चीत्कार, करुणा आदि भावों को व्यक्त करने के लिए अति प्लुत या 'ऽ' चिह्न का यत्र-तत्र प्रयोग किया जाता है, जो भाषा में अनेकरूपता और अराजकता को बढ़ावा देते हैं। गढ़वाली में पालि की भाँति विसर्ग का अभाव है। केंद्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा संस्तुत वर्तनी के अनुसार हलन्त के स्थान पर संयुक्ताक्षरों, परन्तु खड़ी पाई रहित वर्णों, यथा-छ, ट वर्ग के सभी अक्षरों, द तथा ह के योग को दर्शाने के लिए हलन्त चिह्न का प्रयोग अब अधिक प्रचलन में लाया जा रहा है।

गढ़वाली में स्वर-मैत्री (आ+ई=ए, जैसे - मिठाई >मिटै; पिठाई > पिठै); अ + व = औ, यथा - अवतार > औतार; आ + व = औ, जैसे - चुनाव > चुनौ; बुलाव > बुलौ, पथराव > पथरौ। आ + ई = ऐ, जैसे - भाई > भै, जंवाई > जंवै; गाइ + दान = गैदान। ओ + इ = ऐ, यथा-लोई > ल्वै। आ + ई = ऐ, जैसे-पढ़ाई > पढ़ै; लिखाई-लिखै की प्रवृत्ति मिलती है।

यहाँ स्वर - विपर्यय भी सामान्यतः दिखाई देता है। पदादि में आए 'इ', 'उ' तथा 'ए' स्वर वर्णों के स्थान पर क्रमशः 'य' तथा 'व' अर्धस्वरो की स्थानापन्नता हो जाती है, जैसे- यन-इन; इनै-यनै; उख-वख, उनै-वनै; एकादसि - यकादसि। 'ए' स्वर के स्थान पर पूर्व व्यंजन वर्ण को आधा करते हुए अर्धस्वर 'य' का योग हो जाता है, जैसे-मेरो>म्यरो; बेटा >ब्यटा, भेळ >भ्याळ। हिन्दी पदों की 'ओ' ध्वनि कुछ क्षेत्रों में अर्धस्वर 'व' में परिवर्तित हो जाती है, यथा-घोड़ा >घ्वाड़ा; मोटा म्वाट/म्वाटुं; छोरा > छ्वारा।

गढ़वाली की पदान्त ध्वनियों में 'उकार' या 'ओकार' की प्रवृत्ति है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में 'सिन्धु' और 'सौबीर' के अतिरिक्त 'हिमवत्' की पहाड़ी बोलियों को 'उकार बहुला' बताया है। यह उकारान्तता या ओकारान्तता केवल गढ़वाली क्रियाओं के तुमुनार्थक (infinitive) रूप में ही नहीं अन्य प्रयोगों में भी कभी-कभी पायी जाती है। कई संज्ञा या विशेषण शब्द भी उकारान्त मिलते हैं। कुछ उकारान्त क्रियाओं के उदाहरण निम्नवत् हैं-

नठणु (मुकरना), ब्याणु (पशु का बच्चा देना), घुटणु (निगलना, साँस रुकना), सटकणु (भागना), बुकाणु (चबाना), भकोरणु (फल पर दाँत मारकर खाना), भुजणु (चने आदि भूनना), ओलणु (आटा गूँदना), भुटणु (भूनना), थेंचणु (सिल बट्टे पर कूटना), रालणु (मिलाना), बिरड़ाणु (रास्ता भटकना) आदि।

गढ़वाली भाषा : सामर्थ्य, प्रकृति और प्रवृत्ति

जैसे कि पूर्व में उल्लिखित है, केवल क्रियापद ही नहीं, उकारान्तता की यह प्रकृति संज्ञा और वैशेषणिक पदों में भी दृष्टिगत होती है। पुनः यदि किसी संज्ञा शब्द के मध्य या अंत में उकारान्त वर्ण है तो समीपस्थ अगला वर्ण भी उकारान्तता की ओर उन्मुख है, यथा-

घुघुति, निसुडु, झुप्पु, प्वटुगु, ढुँगु, थ्वरुडु, ल्वतुग, लाखुड, पिंगुळु, खांतुडु, झगुलु, बाँसुलु, आदि। संभवतः यह प्रकृति शौरसेनी प्राकृत से आई हो क्योंकि इसी प्राकृत से उद्भूत बुंदेली, कन्नौजी, निमाड़ी, ब्रज आदि में भी यह उकारान्तता है।

हिन्दी से आगत, विशेषतः द्विअक्षरी शब्दों के दोनों वर्ण यदि दीर्घ हों तो गढ़वाली में अंत्य वर्ण प्रयत्नलाघव, क्षिप्र भाषण या मुखसुख के कारण ह्रस्वत्व की ओर प्रवृत्त हैं, उदाहरणतः -

दीदी > दीदि
लाठी > लाठि
मीठी > मीठि
तेरी > तेरि
मेरी > मेरि
चींटी > चींठि

गढ़वाली में प्रत्ययान्त न तथा ल ध्वनियाँ परस्पर परिवर्तनीय हैं, जैसे-मिन-मिल (मैंने)। ष ध्वनि का मूर्धन्य उच्चारण तो शुद्ध रूप से शीर्ष संस्कृतज्ञ और ध्वनिशास्त्र में निष्णात विद्वान ही कर पाते हैं। गढ़वाली में यह स अथवा ख की तरह उच्चरित होती है। अन्तस्थ ल का उच्चारण अधिकांशतः इसके उक्षिप्त परिवेष्टित रूप ळ की तरह होता है। यथार्थतः गढ़वाली में, राजस्थानी की ही भाँति, ळ ध्वनि की प्रधानता है। इसमें हकार वृत्ति का भी प्राबल्य है। फलतः महाप्राण ध्वनियों के प्रति पंजाबी भाषा की ही तरह विशेष आग्रह दर्शित है। सरलीकरण के पक्षघर गढ़वाली लेखक अब अति सायास महाप्राणता के प्रति विरोधी स्वर उठाने लग गए हैं। परन्तु एक विशेषता यह भी है कि पदादि में महाप्राण ध्वनि अभी भी सुरक्षित है परन्तु पदमध्य और पदान्त में यह अल्पप्राण होकर रह जाती है। अन्यत्र दो महाप्राण ध्वनियों के साथ-साथ होने पर भी अंत्य वर्ण की महाप्राणता परिवर्तित होकर अल्पप्राण हो जाती है। अधिक स्पष्टता के लिए कुछ दृष्टांत द्रष्टव्य हैं - भूख > भूक; धंधा > धंदा;

हाथ > हात; धोखा > धोका; भाभी > भाबी। इसी प्रकार पूर्व वर्ण के दीर्घ होने पर अथवा पूर्व ध्वनि पर बलाघात के कारण भी अंत्य वर्ण की महाप्राणता दब जाती है, यथा लाभ > लाब; बाघ > बाग; लोभ > लोब; दूध > दूद; माघ > माग; इंसाफ > इंसाप आदि।

गढ़वाली में कहीं-कहीं अंत्य वर्ण के नासिक्य होने पर समीपस्थ पश्च वर्ण भी सानुनासिकता की ओर प्रवृत्त हैं, उदाहरणतः – सलाँण, पराँण, बौराँण, गौँण, चाँणा, पाँणि आदि।

पद-संरचनात्मक प्रवृत्तियाँ

गढ़वाली ध्वनि आधारित भाषा है। हर्ष, विषाद, शोक, आश्चर्य आदि भावों को व्यक्त करने के लिए अनेक अर्थ देने वाली एकाक्षर ध्वनियाँ हैं। अधिकांश शब्दावली की चित्रात्मकता, कोमलता, परुषता, संकुचन अथवा विस्तार का आधार ध्वनि ही है। स्थानिक शब्दों की संरचना मुख्यतः द्विअक्षरी या त्रिअक्षरी है। लगभग सभी अव्यय और निपात इसी श्रेणी के हैं। 'मिजाण', 'कुजाण', 'खणिक्य', 'क्यापण', 'भौँकुछ' जैसे अव्यय पद; पशुओं के विशेष व्यवहार को द्योतित करने वाले वैशेषणिक शब्द, जैसे – लताड़; औचट्या; इकथ्या; मार्खुड़या एवं कुछ क्रियापद, जैसे 'लोकणु', 'खौँडणु', 'भुरणु', 'बोकणु', 'तचणु', 'सोरणु', 'ग्वाड़णु', 'लुकणु', 'मटोणु' आदि त्रिअक्षरी हैं।

कुछ द्विअक्षरी द्वित्वान्त सज्ञाओं, विशेषणों और क्रिया-विशेषणों के अंतिम वर्ण द्वित्व होने के कारण उनमें अपेक्षाकृत अधिक ध्वन्यात्मकता, अर्थवत्ता और प्रभावोत्पादकता आ गई है। उदाहरणार्थ 'खुट्ट', 'मिट्टु', 'चस्सु', 'रप्प-रप्प', 'फुर्र', 'फ्यस्स', 'धच्च', 'फुस्स', 'सट्ट', 'धम्म', 'टुप्प', आदि द्रष्टव्य हैं। गढ़वाली में अनुकरणमूलक, मनोभावाभिव्यक्तिव्यंजक तथा रणनात्मक पदों का बाहुल्य है। अन्तस् के गुह्यातिगुह्य भावों या मनोवेगात्मक स्थितियों को चित्रात्मक प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करने वाले शब्दों का यहाँ विशिष्ट महत्त्व है। ऐसे कुछ शब्द दर्शनीय हैं- 'कळकळी', 'खुद', 'धुकधकी', 'छपछपी', 'रणमणी', 'उचमुची', 'चड़चड़ी', 'झिड़झिड़ों', 'रंगताट', 'रंगदोळ', 'घपरोळ', 'कतमत', 'बगछट' आदि।

गढ़वाली के संस्कार, संरचक तत्त्व, व्याकरणिक कोटियाँ, लिंग,

गढ़वाली भाषा : सामर्थ्य, प्रकृति और प्रवृत्ति

वचन, कारक, विभक्तियाँ, प्रातिपदिक प्रयोग, काल-रचना, कृदंत-रूप, क्रियाएँ तथा शब्द-रचना, प्रत्यय और उपसर्ग आदि सामान्यतः हिन्दी के ही अनुरूप हैं। फिर भी जातीय संस्कार, सामाजिक व्यवस्थागत दृष्टि अथवा संप्रेषण-व्यवस्था में तनिक वैभिन्न आने के कारण यहाँ की वाक्य-संरचना में यत्र-तत्र स्वतंत्र प्रवृत्तियाँ भी परिलक्षित होती हैं।

वाक्य विधान

गढ़वाली भाषा अब संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर उन्मुख है। खड़ीबोली हिन्दी की ही भाँति वाक्य का पूर्वांश उद्देश्य और उत्तरांश विधेय होता है। अन्य वाग्भागों की तुलना में 'सुप्' (संज्ञा) शब्दों का आधिक्य है। दो लिंग और दो ही वचन हैं। लिंग का निर्धारण अंत्य स्वर पर आधारित होता है। सामान्यतः व्याकरणिक प्रयोग, आकार, प्राकृतिक गुणों तथा स्वाभाविक आधार पर भी लिंग-व्यवस्था होती है। कारक विभक्तियों के रूप में परसर्गों का अधिक प्रयोग मिलता है। सर्वनामों का बाहुल्य है। अधिकांश 'तिङ्' (धातुपद) संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश मूल के हैं, जिनमें बहुत से हिन्दी के द्वार से प्रविष्ट हुए हैं। क्रियाओं में अकारान्त की अपेक्षा 'उ'कारान्तता, 'ऊ'कारान्तता अथवा 'ओ'कारान्तता की प्रवृत्ति है। इन रूपों से सातत्यबोधक काल (Present continuous tense) - 'रहा है' का बोध होता है। गढ़वाली में अस्तित्ववाची, वर्तमानकालिक 'च'/'छ' सहायक क्रिया का प्रमुख स्थान है। अव्ययों के चार समूह मिलते हैं - क्रियाविशेषण, समुच्चयबोधक, संबंधसूचक और विस्मयादिबोधक। इनके अतिरिक्त कई योजक और निपात शब्द भी हैं। गढ़वाली में अनुकार सूचक अव्ययों का विशाल भंडार है। इनमें से कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं - स्याँ-स्याँ, प्वाँ-प्वाँ, छणमण, र्वीं-र्चीं, ध्वीं-ध्वीं, छर, सुरसुर, धड़म्, फताक्, चाँ, धड़म्, खितखित, सरासर आदि।

अभिव्यंजना शक्ति और भावप्रवणता

गढ़वाली भाषा अपनी विशिष्ट अर्थवत्ता और प्रेषणीयता में अप्रतिम है। अर्थ के क्षेत्र में यहाँ के ध्वन्यानुकरणात्मक शब्दों का बड़ा योगदान है। ऐसे शब्द अपना अर्थ स्वयं ध्वनित करने की क्षमता रखते हैं, जैसे-मुँह से निकलने वाली ध्वनियाँ- 'किंकलाट', 'कणाण', 'कचकच', 'खिगताट', 'गुंगानाण',

परस्पर संघात से उत्पन्न ध्वनियाँ—‘धचाक’, ‘ठसाक’, ‘घचोरणु’, ‘टप्प’, ‘थेंचणु’, ‘घचोलणु’, आदि। विभिन्न चेष्टाओं तथा शारीरिक अनुभूतियों को लेकर भी अनेक अनुकारसूचक शब्द मिलते हैं, यथा— ‘घूलणू’, ‘जबकौणु’ आदि। आँखों के इशारे तथा मुख-मुद्राओं के संकेतों से अपने भाव प्रेषित करने के लिए ‘सनकाणु’ क्रिया है। गढ़वाली में ‘लो’, ‘ली’ (धगुली, नथुली), ‘ड़ो’, ‘ड़ी’ (गौड़ो, गौड़ी) आदि प्रत्यय किसी वस्तु विषय या व्यक्ति के आकार, सौन्दर्य, कोमलता, स्त्रीत्व जैसे भावों का बोध कराते हैं। यहाँ के कई सामासिक शब्द अर्थवत्ता में वृद्धि करते हैं, यथा - ज्यूँग्यूँगेहूँ + जौ तथा दाल के योग से ‘जूँदाल’ शब्द निर्मित हुआ, अर्थात् वह अक्षत जो देवता के ‘पस्वा’ प्रतिनिधि द्वारा बलि दिए जाने वाले पशुओं के ऊपर बिखराए जाते हैं। इसी प्रकार एकत्या = एक ही हाथ वाली अर्थात् वह गाय या भैंस जो केवल एक ही हाथ (उसी व्यक्ति) से दूध दुहाने की आदी है।

गढ़वाली में अनेक भावप्रवण शब्द ऐसे भी हैं, जिनका अन्य भाषा में एक ही प्रतिशब्द या पर्याय द्वारा अर्थ द्योतन कठिन होगा। हृदय और मन की शान्ति, शीतलता और संतुष्टि को ‘छपछपी’ कहा जाता है। किसी दीन-हीन, असहाय, कोमल, दयापात्र जीव के प्रति हिंसा या क्रूर व्यवहार पर उसके लिए दयाद्र होकर सहानुभूति या करुणा से द्रवित होना ‘कळकळी’ हैं। ‘घपरौळ’ ऐसी अस्तव्यस्त स्थिति है जो हिन्दी के घपला अथवा अंग्रेजी के **chaos, ruckus, bedlam, confusion** आदि में निहित भावों के अतिरिक्त कुछ अन्य भी बोधित करती है। सही अर्थों में गढ़वाली की घपरौलजन्य अव्यवस्थात्मक परिस्थिति का यथातथ्य चित्रांकन करने में उक्त सभी शब्द अक्षम हैं। इसी प्रकार आत्मीयों, परिजनों और परिवेश से विलग होने पर उनकी स्मृति में उठने वाली वेदना, टीस, उदासी या मन को व्यथित करने वाली स्थिति, उन्हें मिलने, देखने और उनके साथ रहने की प्रबल इच्छा को गढ़वाली में ‘खुद’ कहा जाता है, जिसका किसी भी अन्य भाषा में समभावी प्रतिशब्द मिलना कठिन ही नहीं, असंभव सा है। कुछ विद्वान खुद शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत ‘क्षुधा’ से करते हैं। परन्तु ‘क्षुधा’ का गढ़वाली में ‘छुद्या’ तद्भव रूप है। ऐसे कई शब्द गढ़वाली में हैं। कुमाउँनी में ‘नराई’ लगभग इसके समीप है।

गढ़वाली भाषा : सामर्थ्य, प्रकृति और प्रवृत्ति

चुनौतियाँ और भविष्य

गढ़वाली शब्दों में ध्वनिगत और रूपगत विविधता सर्वाधिक चुनौतीपूर्ण विषय है। एक ही भाव और अर्थ का द्योतक शब्द विभिन्न क्षेत्रों और इलाकों में थोड़ी-थोड़ी दूरी पर अलग-अलग उच्चारण, ढौळ, लहजा, स्ट्रेस, स्ट्रेच, टोन और तान से बोला जाता है। व्याकरणिक प्रयोगों एवं वर्तनी में समरूपता कम मिलती है। स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, लुप्त तथा अति लुप्त- 'SS' चिह्न के प्रति अनुशासन का अभाव है। व्यंजन वर्णों के महाप्राण-अल्पप्राण तथा सघोष-अघोष रूपों को दर्शाने में स्वच्छंदता अधिक है। क्रिया-पदों का अंत्य स्वर विभिन्न क्षेत्रों में इलाकाई प्रयोग तथा प्रचलन के अनुसार अकारान्त, उकारान्त या ओकारान्त रूप में प्रयुक्त होते हैं। स्वर, स्वन, ध्वनि के विभिन्न आयामों तथा व्यंजन वर्णों के घोषत्व, महाप्राण-अल्पप्राण, सानुनासिकता आदि के विविध स्वरूपों को इंगित करने के लिए न तो अभी तक किन्ही वैशिष्ट्य दर्शक चिह्नों (Diacritic Marks) पर कोई गंभीर सुझाव आए हैं ना ही उनका प्रयोग और प्रचलन है। फलतः मानकीकरण (standardisation) का समाधान अनेक प्रयासों के बावजूद अभी तक नजर नहीं आता।

भाषा का ह्यासीकरण और तद्जनित विलुप्तीकरण को बचाने के लिए कोई ठोस प्रयास नहीं हो पाए। 'भाषते सा भाषा' जो बोली जाय, वही भाषा है, परन्तु गढ़वाली का बोलचाल में प्रयोग संकुचित होता जा रहा है। जनसंख्या के पलायन के साथ गढ़वाली भाषा के विस्थापन पर भी अंकुश लगाना सर्वाधिक चुनौतीपूर्ण है, संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित न हो पाने से गढ़वाली की स्वतंत्र पहचान और अस्मिता खतरे में है।

गढ़वाली निश्चिततः एक समृद्ध और गौरवशाली भाषा है। उसकी विशिष्ट शब्दावली, अभिव्यंजना शक्ति तथा अर्थवत्ता अप्रतिम है। आज साहित्य की सभी विधाओं में गढ़वाली भाषा का प्रयोग मिलता है। इसकी शब्दावली के प्रति उदार भाव रखने और इससे शब्द अंगीकृत करने से हिन्दी को भी अवश्यमेव शक्ति और संपन्नता मिलेगी।



संदर्भ :

1. जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया
जिल्द 9, खंड 4
2. एफ. ई. पार्टिजर : मार्कण्डेय पुराण का अंग्रेज़ी अनुवाद
3. एस. एच. केलॉग : ए ग्रामर ऑफ़ हिन्दी लैंग्वेज
4. महाभारत : वन पर्व
5. डॉ. गुणानन्द जुयाल : मध्यपहाड़ी का अनुशीलन और उसका
हिन्दी से संबंध
6. श्याम चंद नेगी : गढ़वालीका निबंध
7. डॉ. हरदेव बाहरी : हिन्दी सिमेंटिक्स
8. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा : ब्रजभाषा – हिन्दी का इतिहास
9. डॉ. बाबूराम सक्सेना : इवोल्यूशन ऑफ़ अवधी
10. डॉ. उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास
11. राहुल सांकृत्यायन : हिमालय परिचय (1) : गढ़वाल
12. डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या : ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ़
बंगाली लैंग्वेज
13. डॉ. रामविलास शर्मा : भारतीय भाषा परिवार और हिन्दी
14. डॉ. उमाशंकर सतीश : गढ़वाली फोनेटिक्स
15. डॉ. अचलानन्द जखमोला : कोशविधा एवं अन्य शोध निबंध
16. चक्रधर बहुगुणा : गढ़वाली साहित्य की भूमिका
17. डॉ. गोविन्द चातक : मध्यपहाड़ी की भाषिक परंपरा
18. प्रो. डी.डी. शर्मा : लिंग्विस्टिक हिस्ट्री ऑफ़ उत्तराखंड
19. डॉ. हरिदत्त भट्ट 'शैलेश' : गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य
20. अबोध बंधु बहुगुणा : गढ़वाली व्याकरण
21. ई. टी. एटकिंसन : हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स
22. पं. हरिकृष्ण रतूड़ी : गढ़वाल का इतिहास
23. डॉ. पातीराम : गढ़वाल ऐंश्येंट एंड मॉडर्न
24. डॉ. शिव प्रसाद डबराल : उत्तराखंड का इतिहास
25. डॉ. शिव प्रसाद नैथाणी : ब्रह्मपुर और सातवीं शती का उत्तराखंड
26. डॉ. यशवन्त सिंह कटोच : उत्तराखण्ड का नवीन इतिहास

कुमाउँनी भाषा और बोलियों का
परिक्षेत्र

कुमाउँनी भाषा और बोलियों का परिक्षेत्र



स्रोत : प्रो. शेरसिंह बिष्ट

कुमाउँनी भाषा :

स्वरूप और सौष्ठव

कुमाऊँ और कुमाउँनी

किसी प्रदेश या क्षेत्र के नाम के आगे हिन्दी के तद्भव प्रत्यय 'ई' को जोड़ने से उसका वैशेषणिक रूप उस प्रदेश को निवासियों, वस्तुओं अथवा भाषा या बोली का बोध कराता है, यथा-गढ़वाल-गढ़वाली, बिहार-बिहारी, कश्मीर-कश्मीरी, हिन्द-हिन्दी, राजस्थान-राजस्थानी आदि। तदनुसार उत्तराखण्ड राज्य के कुमाऊँ मंडल में व्यवहृत भाषा को कुमाउँनी कहा जाता है। सामान्यतः इसे कुमाऊँ+ई=कुमाऊँनी अथवा कुमाई होना चाहिए था परन्तु प्रयत्नलाघव या मुख-सौकर्य के कारण ऊँ के स्थान पर ऊँई या ई को उँनी बना दिया गया, जो प्रचलन में आते-आते रूढ़, मानक और कालान्तर में सर्वग्राह्य हो गया। इसे कहीं-कहीं कुमावूँ, कुमायूँ और तदनुसार कुमावुँनी या कुमायुँनी रूप में भी बोला और पढ़ा जाता है। अंग्रेजी में KUMAON REGIMENT नाम अति प्राचीन है। उसके आधार पर KUMAON तथा KUMAONI प्रचलित हुआ परन्तु अंग्रेजी में भी अब KUMAUNI अधिक मान्य है।

कुमाऊँ शब्द कुमूँ से और कुमू से इस प्रकार व्युत्पन्न माने जाते हैं:- कूर्म>कुर्मु>कुम्मु>कुमूँ। इस क्षेत्र के लिए कूर्माचल का प्रयोग सर्वप्रथम स्कन्दपुराण में मिलता है, जहाँ इसे महाहिमालय के अन्य चार खंडों - नेपाल, केदार, जालंधर तथा कश्मीर के साथ पाँचवें खंड में परिगणित किया गया है। स्कन्दपुराण में यह मानसखंड नाम से भी अभिहित है। महाहिमालय पूर्व, पश्चिम और मध्य तीन भागों में विभाजित है जिसके मध्य भाग में कुमाऊँ-हिमालय तथा गढ़वाल-हिमालय हैं। इसीलिए कुमाउँनी और गढ़वाली भाषाओं को जॉर्ज ग्रियर्सन, डॉ. गुणानन्द जुयाल, प्रो. डी.डी. शर्मा तथा डॉ. गोविन्द चातक प्रभृति अनेक भाषाविद् 'मध्य पहाड़ी' (Central Pahari) के अन्तर्गत समाहित करते हैं।

भौगोलिक परिक्षेत्र

कुमाऊँ की भौगोलिक सीमाएँ समय-समय पर बदलती रहीं। पश्चिम

में गढ़वाल और पूर्व में नेपाल के साथ उसके कटु और मधुर दोनों प्रकार के संबंध रहे हैं। कभी-कभी सीमान्त क्षेत्रों में कुमाऊँ की छोटी-छोटी ठकुराइयाँ द्वाराहाट, अस्कोट, सीरा, सोर, गंगोली आदि थी, जो आपस में ही नहीं वरन् गढ़वाल से भी अवसर पाकर युद्ध में रत रहा करती थी। कई युद्ध सीमा बढ़ाने के लिए भी किए गए। गढ़वाल के राजा अजयपाल, मानशाह, महीपतिशाह, फतेहशाह तथा उनके समकालीन कुमाऊँ के चंदशीय राजा कीर्तिचंद, लक्ष्मीचंद, उद्योतचंद आदि के छुटमुट संघर्ष होते रहे। साथ ही संबंध सुधारने के प्रयास भी किए गए। लगभग यही स्थिति पूर्व में नेपाल राज्य के साथ रही।

वर्तमान में कुमाऊँ का भौगोलिक परिक्षेत्र लगभग 28°-51° से लेकर 30°-49° उत्तरी अक्षांस तथा 77°-43° से 81°-31° पूर्वी देशान्तर के मध्य है। इसका क्षेत्रफल लगभग 21,000 वर्ग कि. मी. तथा सन् 1991 की जनगणना के अनुसार जनसंख्या 25,00,000 के आसपास है। इसके उत्तर में तिब्बत, पूर्व में नेपाल, पश्चिम में गढ़वाल मंडल के चमोली और पौड़ी जनपद, तथा दक्षिण में मुरादाबाद, रामपुर, बरेली और पीलीभीत जनपद हैं। प्रशासनिक दृष्टि से कुमाऊँ मंडल में छह जनपद आते हैं-अल्मोड़ा, नैनीताल, ऊधम सिंह नगर, बागेश्वर, चम्पावत और पिथौरागढ़।

बोलियाँ और उपबोलियाँ

ध्यातव्य है कि कुमाऊँनी भी दूसरी मध्य पहाड़ी भाषा-गढ़वाली के ही समान अनेक बोलियों और उपबोलियों का समुच्चय है। वास्तव में देखा जाय तो अधिकांश भाषाएँ अनेक बोलियों का सम्मिलित और परिनिष्ठित रूप ही होती हैं। अतः उस भाषा के सम्यक् स्वरूप को समझने के लिए उसकी बोलियों का परिचय आवश्यक है।

कुमाऊँ की बोलियों पर सर्वप्रथम पं. गंगादत्त उप्रेती ने सन् 1900 में 'दि डाइलेक्ट्स ऑव् दि कुमाऊँ डिवीजन' शीर्षक पुस्तक में 17 कुमाऊँनी बोलियों के उदाहरण प्रस्तुत किए। तत्पश्चात् श्री कृष्ण पांडे, एटकिंसन, एस. एच. केलॉग आदि भाषाविदों ने इन बोलियों के संबंध में टिप्पणियाँ प्रकाशित की। जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन के सुविख्यात भाषा सर्वेक्षण (सन् 1894-1927) के प्रथम एवं नवम भागों में कुमाऊँनी के इतिहास और भाषा-रूप पर प्रकाश डालते हुए 13 बोलियाँ सोदाहरण परिगणित हैं। सन् 1911 में 'ए डिक्शनरी

कुमाउँनी भाषा : स्वरूप और सौष्ठव

ऑव् पहाड़ी डाइलेक्ट्स' प्रकाशित हुई। तदनन्तर अनेक पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों और शोध-ग्रंथों में कुमाउँनी भाषा और बोलियों के विभिन्न आयामों पर मौलिक और भाषा वैज्ञानिक पद्धतियों से स्तरीय कार्य हुए। इनमें डॉ. केशवदत्त रुवाली, डॉ. नारायण दत्त पालीवाल, डॉ. त्रिलोचन पांडे, डॉ. भवानीदत्त उप्रेती, डॉ. देवसिंह पोखरिया आदि कई विद्वानों की प्रशंसनीय पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इस दिशा में डॉ. शेरसिंह बिष्ट तथा प्रो. डी.डी. शर्मा प्रणीत अति महत्व के शोधपूर्ण ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं।

थोड़ी-थोड़ी दूरी पर बदलाव और परिवर्तन वाणी और पाणी (पानी) की सामान्य प्रवृत्ति है। परन्तु पार्वत्य प्रदेशों में यह वृत्ति अधिक प्रबल है। स्थानगत वैभिन्न्य कुमाउँनी और गढ़वाली दोनों में मिलता है। डॉ. बिष्ट ने सर्वेक्षण की दृष्टि से कुमाउँनी के अंतर्गत पाँच बोलियाँ गिनाई हैं- 1. कुमाउँनी, 2. राजी, 3. शौका (जोहारी एवं रङ्), 4. बुक्सा, 5. थारू। उन्होंने कुमाउँनी को रूपगत तथा ध्वनिगत आधार पर पश्चिमी-पूर्वी वर्गों में बाँटा है। पश्चिमी में छह उपबोलियाँ समाहित हैं- 1. खसपर्जिया 2. चौगर्खिया 3. गंगोली 4. पछाई 5. दनपुरिया तथा 6. रौ चौबैसी। पूर्वी कुमाउँनी में चार उपबोलियाँ परिगणित हैं- 1. कुमय्याँ 2. सोर्याली 3. अस्कोटी और 4. सीराली। राजी, शौका, जोहारी, रङ्, बुक्सा, थारू जनजातियों की बोलियाँ हैं।

इस संदर्भ में अल्मोड़ा और इसके आसपास व्यवहृत खसपर्जिया बोली विशेष उल्लेखनीय है। खसपर्जिया अर्थात् खासप्रजा अथवा खस प्रधान प्रजा की भाषा। इस बोली को राजाओं की उस विशिष्ट प्रजा का द्योतक बताया जाता है जो अल्मोड़ा शहर के चारों ओर बस गई थी। ज्ञातव्य है कि चन्द राजाओं की राजधानी अल्मोड़ा थी। दूसरे अर्थ में यदि इसे उस सशक्त और विशाल खस जाति से संबद्ध माना जाय, तब भी यह विशिष्टता का ही बोध कराता है। कुमाउँनी का अधिकांश परिनिष्ठित साहित्य खसपर्जिया में ही उपलब्ध है। अपनी विशिष्टता और व्यापकता के आधार पर इसे कुमाउँनी की मानक भाषा बनाने का प्रस्ताव विचाराधीन है।

कुछ भाषाविद् पाली तथा नैनीताल जिले के कुछ गाँवों एवं फल्दाकोट परगना की बोली फल्दाकोटिया को अलग स्थान देते हैं, परन्तु खसपर्जिया के ध्वनिगत, रूपगत और अर्थगत साम्य के आधार पर इसे अब समीपस्थ लोकप्रिय खसपर्जिया में ही अंतर्भुक्त करना अधिक समीचीन समझा जा रहा है।

शब्द-भंडार

पौराणिक एवं ऐतिहासिक साक्ष्य के अनुसार कुमाऊँ क्षेत्र में समय-समय पर यक्ष, गंधर्व, किन्नर, नाग, हूण, कोल, किरात, कुणिन्द, तंगण, द्रविड़, खश, शक आदि कई अनार्य जातियाँ और वैदिक आर्य अनेक मार्गों से होकर यहाँ आए और अधिकांश ने इसे अपना अधिवास बनाया। यहाँ की भोटिया जाति को हूणों तथा शिल्पकारों को कोल जाति का वंशज बताया जाता है। ब्राह्मण एवं क्षत्रियों पर कुणिन्द, तंगण, खश, शक तथा आर्यों के गुण और प्रभाव परिलक्षित होते हैं। कत्यूरी एवं चंद शासकों के राज्यकाल में कई कारणोंवश उच्चवर्गीय ब्राह्मण तथा क्षत्रिय देश के विभिन्न भागों विशेषतः राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात आदि से, यहाँ आकर यहीं के हो गए। स्वाभाविक था कि इन जातियों के शब्द भी कुमाउँनी में हैं।

प्रमुख धार्मिक केन्द्र होने के कारण अनेक साधु, संत, सन्यासी, भक्त और श्रद्धालु इस क्षेत्र में तीर्थाटन, मन्दिरों के दर्शन, पूजा-पाठ, धर्म-कर्म के उद्देश्य से यहाँ आते-जाते रहे। उनमें से कई यहीं बस गए जिसके फलस्वरूप भाषिक मिश्रण हुआ। भारत में वर्षों तक मुसलमानों और अंग्रेजों के शासन के कारण मध्य हिमालय में भी अरबी, फ़ारसी तथा अंग्रेज़ी भाषा के कई शब्द स्थानीय उच्चारण के साथ प्रयुक्त होते रहे हैं, भले ही गढ़वाल-कुमाऊँ पर मुसलमानों का शासन कभी नहीं रहा। अंग्रेज़ों के शासनकाल से यहाँ शिक्षा का माध्यम हिन्दी रखा गया। फलतः हिन्दी तथा अनेक आधुनिक आर्य भाषाओं के कई शब्दों को कुमाउँनी ने अपने आगोश में लिया। शब्दों के संबंध में कुमाउँनी ने सदैव ही उदारतपूर्ण रुख अपनाया। फलतः आगत शब्दों को बेझिझक आत्मसात करते हुए उसमें समृद्धि आती गई। इन सबके बावजूद हम यह न भूलें कि कुमाउँनी के शब्द-भंडार में एक तिहाई से भी अधिक शब्द स्थानिक हैं। कुमाउँनी के देशज शब्दों की एक समृद्ध व सशक्त परंपरा रही है और उसी में कुमाउँनी के मूल तत्त्व निहित हैं। इन्हीं शब्दों में वर्णित लोकतत्त्व कुमाउँनी सस्कृति का भी आधार है। कुछ विशिष्ट स्थानीय शब्द जैसे खोर (सिर), खाप (मुँह), खुट्ट (पैर), ढाड़ (पेढ़), बोट (पेड़), बुबु (दादा), बैग (पुरुष), स्यैणि (स्त्री), गटो (बुरा), कुड़ि (घर), साँटण (अदला-बदली), भनेर (आग) मैँस (इंसान), कान्स (उम्र में छोटा), लूणी (नमकीन), फाँचि (गठरी), रूड़ (ग्रीष्म), स्यूड़ (सुई) आदि सैकड़ों की संख्या में हैं जिनका

कुमाउँनी भाषा : स्वरूप और सौष्ठव

हिन्दी से किसी प्रकार का भी साम्य नहीं दिखाई देता।

कुमाउँनी में अनेक क्रियाएँ हिन्दी से भिन्न हैं, यथा- चाण (देखना), पन्यारन (पहचानना), मतक्यौन (उकसाना), खड्यौन (गाड़ना), हिटण (चलना), हराण (खोना), कुतिक्यौन (मुट्ठी से मारना), च्वेड़न (छीलना), ल्वटण (गिरना), डकुरण (दहाड़ना), डामण (दागना), मतकण (दहना), भनकौन (फेंकना), निसण (चले जाना) आदि।

भाषिक विकास

भाषा-वैज्ञानिकों ने उत्तराखंड की दो प्रमुख भाषाओं-गढ़वाली और कुमाउँनी, को 'मध्य पहाड़ी' की संज्ञा दी है। इनके साथ पूर्वी पहाड़ी अर्थात् नेपाली को भी सम्मिलित करते हुए भाषिक दृष्टि से इनका उद्गम, स्रोत और विकास-धारा एक ही बताई गई है। अधिकांश विद्वानों का यही मत है कि प्रागैतिहासिक काल में यह क्षेत्र निग्रिटो-ऑस्ट्रोलाइड, तिब्बत-बर्मी, मंगोल आदि मूल के लोगों का आवास रहा। कुमाऊँ के शिल्पकार और राजी, बोक्सा, थारू, भोटिया आदि जनजातियों की बोलियों, लोक-गाथाओं और जागर-वार्ताओं ने कुमाउँनी भाषा का आधारिक रूप निर्मित किया होगा, जिस पर कालान्तर में अन्य भाषाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

सर्व प्रथम जॉर्ज ग्रियर्सन ने अपने सर्वेक्षण में कुमाउँनी के भाषिक स्वरूप पर विस्तृत प्रकाश डाला। उनकी मान्यता थी कि प्राचीन खश चूँकि पिशाच भाषी थे, अतः कुमाउँनी पर पैशाची, दरद एवं राजस्थानी का प्रभाव पड़ा है। उनके अनुसार खसपर्जिया का मूल संभवतया खशों की भाषा का परिष्कृत रूप है। हार्नले के मतानुसार उत्तर भारत में शौरसेनी और मागधी दो प्रमुख भाषा समुदाय थे। वे शौरसेनी वर्ग के उत्तरी गौड़ीय भाग में गढ़वाली, कुमाउँनी और नेपाली को समाहित करते हैं। डॉ. सुनीति कुमार चैटर्जी ने पहाड़ी भाषाओं पर पैशाची, दरद या खस प्राकृत अपभ्रंश का प्रभाव भी स्वीकृत किया। डॉ. हरदेव बाहरी मध्यपहाड़ी की क्लिष्टता को दृष्टि में रखते हुए उसे पैशाची के अधिक निकट मानते हैं। उधर डॉ. गुणानंद जुयाल ने कुमाउँनी-गढ़वाली को दरद के अधिक निकट समझते हुए उसमें अनेक द्रविड़ शब्दों के प्रवेश के कारण उसे अनार्य भाषाओं से भी अंशतः प्रभावित बताया। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा गढ़वाली-कुमाउँनी के विकास पर शौरसेनी का

विशेष प्रभाव समझते हैं। इन सबके विपरीत हरिशंकर जोशी कुमाउँनी की समता ब्रज और राजस्थानी से न्यूनतम मानते हुए उसे वैदिक और लौकिक संस्कृत तथा गुजराती-मराठी के अधिक समीप समझते हैं। इन सभी मान्यताओं और सम्मतियों पर समग्रतः विचार करने के उपरान्त डॉ. शेरसिंह बिष्ट सहित बहुशः विद्वानों की यही अवधारणा है कि विभिन्न स्रोतों से शब्द आत्मसात् करने के उपरान्त भी कुमाउँनी के भाषिक विकास में शौरसेनी और राजस्थानी का योगदान अवहेलित नहीं किया जा सकता।

कुमाउँनी ध्वनियाँ

कुमाउँनी में 14 स्वर, 33 व्यंजन और 2 अर्द्धस्वर हैं। कुमाउँनी ध्वनियों की एक विशिष्टता यहाँ के स्वरों में हैं। जिस प्रकार वैदिक संस्कृत स्वर-प्रधान है तथा स्वरों के उदात्त, अनुदात्त उच्चारणों से अर्थ-भेद उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार कुमाउँनी भी स्वर प्रधान है। इसके अतिरिक्त इसमें ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के मध्य का स्वर भी है जिसे 'ह्रस्व-दीर्घ' की संज्ञा दी गई है। आ, ए, ऐ तथा ओ स्वरों में यह द्रष्टव्य है, जिससे अर्थ में परिवर्तन आ जाता है।

ध्यातव्य है कि इस ध्वनि का कुमाउँनी भाषा में बहुत महत्त्व है। परन्तु इस भाषा के साहित्यकारों, कवियों और डॉ. केशवदत्त रूवाली से पूर्व के कोशकारों ने इस ह्रस्व-दीर्घात्मक ध्वनि रूप को स्वीकारते हुए भी, इसके लिए किसी विशिष्ट लिपि चिह्न का प्रयोग नहीं किया। डॉ. गुणानंद जुयाल ने सन् 1967 में प्रकाशित अपने शोध प्रबन्ध 'मध्य पहाड़ी भाषा (गढ़वाली-कुमाउँनी)' में इस ध्वनि के लिए संबद्ध स्वर की शिरोरेखा के ऊपर एक खड़ी पाई का प्रयोग किया, जबकि त्रिलोचन पाण्डे ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'कुमाउँनी भाषा और उसका साहित्य' (सन् 1977), में प्रभावित स्वर के नीचे अर्द्धचंद्रकार चिह्न (~) अंकित किया है। कुछ लेखक इसके लिए हल चिह्न भी प्रयुक्त करते रहे। फलतः एकरूपता नहीं आ पाई।

अंततः डॉ. केशवदत्त रूवाली तथा डॉ. भवानीदत्त उप्रेती ने इसका समाधान निकाला जिसके अनुसार संबद्ध ध्वनि की खड़ी पाई के नीचे एक अधोरेखा लगाने का प्रावधान किया, यथा-खाज भुने चावल-तिल मिश्रित चबेना, नाच (नृत्य करो, नाचो), खेल (खेलो), लेख (लिखो), खोज (खोजो, ढँढो), छोर (लड़का) आदि।

कुमाऊँनी भाषा : स्वरूप और सौष्ठव

कुमाऊँनी में ह्रस्व-दीर्घ ध्वनि का महत्त्व

उल्लेखनीय है कि कुमाऊँनी में उपयुक्त ह्रस्व-दीर्घ ध्वनि का विशेष महत्त्व है। वाचिक रूप में तो इसका प्रयोग होता रहा है जिससे समान शब्दों के अर्थ-भेद स्पष्ट हो जाते हैं। कुमाऊँनी में दीर्घ स्वरों- आ, ए, ऐ तथा ओ के ह्रस्वात्मक उच्चारण किस तरह से उसी शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ द्योतित करते हैं, इसको स्पष्ट करने के लिए उदाहरण के रूप में कुछ शब्दों के जोड़े आगे दिये गए हैं। इनमें दीर्घ स्वरों के ह्रस्वात्मक रूप को स्पष्ट करने के लिए प्रभावित ध्वनि या उसकी खड़ी पाई के नीचे अधोरेखा (-) द्वारा इंगित किया गया है।

1. ह्रस्वात्मक 'आ' जनित अर्थ-भेद के कुछ द्रष्टांत

आग	-	अग्नि, तपन, गरमी
आर्ग	-	ईर्ष्या, डाह, द्वेष
आड़	-	ओट, परदा, लकड़ी का मोटा डंडा अड़ाना
आड	-	आश्रय, सहारा, मदद
आद	-	अदरक
आद	-	नमी, आर्द्रता, हवा में होने वाली भाप
आम	-	दादी
आम	-	एक फल विशेष
काट	-	काटो, काटने के लिए कहना, भैंसा
काट	-	निन्दा, कपट, चालबाजी
काँव	-	कौवा, काला
काव	-	काल, मृत्यु

उत्तराखण्ड की लोकभाषाएँ : स्वरूप और चुनौतियाँ

गा॒ज	-	कीचड़, दलदल
गाज	-	फेन, झाग
घा॒ट	-	नुकसान, घाटा
घाट	-	तट, नदी का किनारा, श्मशान घाट
चा॒ट	-	चाटो, चाटने के लिए कहना, स्वाद, लत
चाट	-	तीव्र इच्छा, मसालेदार चटपटा खाद्य पदार्थ
चा॒ण	-	चना
चाण	-	देखना
छा॒प	-	छापने का आदेश, छपो
छाप	-	चिह्न, निशान
जा॒त	-	जातो, जादू
जात	-	जाति
टा॒म	-	छल, धोखा
टाम	-	पूरा, भरा
डा॒न	-	पहाड़ की चोटी
डान	-	दंड
ता॒ज	-	ताजा, सद्यः निर्मित
ताज	-	मुकुट
दा॒ग	-	दागो, चलाओ
दाग	-	धब्बा, कलंक
ना॒च	-	नाचो, नाचने के लिए आदेश
नाच	-	नृत्य

कुमाउँनी भाषा : स्वरूप और सौष्ठव

पाण	-	ऊपरी कमरा
पाण	-	चूल्हे की लिपाई
बाँट	-	बाँटो, बाँटने के लिए कहना
बाँट	-	भार, मापक, स्वादिष्ट सूप
माल	-	माला, हार, ऊपर, मल्ली
माल	-	संपत्ति, सामान, भाबर क्षेत्र
रात	-	लाल
रात	-	रात्रि
लाल	-	लाला, बनिया, लड़का
लाल	-	रक्त वर्ण, लाल
सान	-	रौब, शान
सान	-	मिलाने के लिए आदेश, पशुओं के लिए हरा चारा
हाम	-	हम लोग
हाम	-	घाक, रौब, प्रभाव

2. ह्रस्वात्मक 'ए' के कारण उत्पन्न अर्थ-भेद के कुछ उदाहरण

केलि	-	केले की एक प्रजाति
केलि	-	काहे, किस चीज से
खेल	-	खेलो, खेलने के लिए आदेश
खेल	-	मजाक, क्रीड़ा
भेट	-	भेटों, मुलाकात करो
भेट	-	उपहार, मुलाकात, मंदिर में चढ़ाई जाने वाली सामग्री

3. ह्रस्वात्मक 'ओ' जनित उत्पन्न अर्थ-भेद के कुछ नमूने

ओड़	-	ओढ़ों, खेतों में सीमा-निर्धारक पत्थर
ओड़	-	मिस्त्री, कारीगर
कोप	-	कोई, अपरिचित, अनजान व्यक्ति
कोप	-	क्रोध, गुस्सा।

(अधिकांश उदाहरण साभार डॉ. शेरसिंह बिष्ट प्रणीत 'कुमाउँनी भाषा और साहित्य' पर आधारित हैं।)

यद्यपि बोलचाल में इस अति महत्त्व की ध्वनि का कुमाउँनी में प्रचुरता से प्रयोग होता है, परन्तु प्रकाशित साहित्य में अनवधानतावश अथवा टंकण-मुद्रण में कठिनाई के कारण संबद्ध ध्वनि का इसके संकेत सहित अंकन कम दिखाई देता है।

कुमाउँनी ध्वनियों की कुछ अन्य प्रमुख प्रवृत्तियाँ

1. य तथा व के अतिरिक्त अन्य सभी व्यंजनों का उच्चारण ओष्ठ को गोलाकार बनाकर (ओष्ठीकरण) किया जाता है, यथा-फवाड़ा (फोड़े), ध्वाका (धोखा), ध्वाड़ा (घोड़ा)।
2. विभिन्न बोलियों में स्थानिक और भौगोलिक कारणों से ध्वनिगत और रूपगत विविधता मिलती है। पूर्वी और पश्चिमी कुमाउँनी में यह विभेद अधिक प्रबल है।
3. समस्त कुमाउँनी में एकरूपता का अभी भी अभाव है।
4. पूर्वी कुमाउँनी में तालव्यीकरण (पैलेटलाइजेशन) अधिक मिलता है, जैसे-ल्यों (लाओ), त्यारा (तेरे), प्याला (लड़के)।
5. कहीं-कहीं अंतस्थ ल के स्थान पर उक्षिप्त परिवेष्टित ळ का प्रयोग भी दिखता है।
6. गढ़वाली के समान इसमें भी ङ, ढ तथा ण व्यंजनों से शब्द आरंभ नहीं होते।

कुमाउँनी भाषा : स्वरूप और सौष्ठव

7. कुछ शब्दों के मध्य में संयुक्त व्यंजन कम मिलते हैं।
8. अन्यत्र द्वितीकरण (जेमिनेशन) की भी प्रवृत्ति मिलती है, यथा कल्लाट (शोर), आब्बे (अभी)।
9. आगत विदेशी ध्वनियों का पड़ोसी गढ़वाली के सदृश स्थानीय प्रवृत्ति के अनुसार उच्चारण और वर्तनी में परिवर्तन आ गया है, उदाहरणतः-
इस्कूल (स्कूल), पल्टन (प्लाटन), पतरौल (पेट्रोल), लालटेन (लैंटर्न),
किफैत (किफायत), दरखास (दरखास्त), पलस्तर (प्लास्टर), बादुर
(बहादुर), मल्लम (मलहम), किफैत (किफायत) आदि।
10. कुमाउँनी में अनुनासिकता (नाजेलाइजेशन) की वृत्ति है, यथा- साँत
(सात), साँथ-साँथ (साथ-साथ), पैसा (पैसा), नाँक (नाक) आदि।
11. हिन्दी के आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द कुमाउँनी में ह्रस्व, जैसे - माल
(माला), काथ (कथा) तथा हिन्दी के ईकारान्त शब्द यहाँ इकारान्त हो
जाते हैं, यथा-मालि (माली), ताइ-तालि (ताली)।
12. संयुक्त स्वरों (डिपथॉगज) का इसमें पूर्णतः अभाव है।
13. पूर्वी कुमाउँनी की कुछ बोलियों, जैसे-सोर्याली और अस्कोटी आदि में
क्रियाओं के अंत्य स्वरों में उकार/ओकार की वृत्ति है जो पश्चिमी
कुमाउँनी की बोलियों में नहीं दिखाई देती। उसमें क्रियाएँ अकारान्त है।
14. ऊष्म (सिविलेंट) ध्वनियों में दंत्य 'स' की अपेक्षा तालव्य 'श' का
प्रयोग अधिक है।
15. कुमाउँनी के स्वरों में उच्चारण की दृष्टि से प्रधानतः दो प्रकार की
प्रवृत्तियाँ प्रमुख रूप से दिखाई देती हैं। प्रथम, दीर्घ स्वरों का ह्रस्व
उच्चारण और दूसरा ह्रस्व स्वरों का अति ह्रस्व उच्चारण। इस वृत्ति के
फलस्वरूप हिन्दी के कई दीर्घ स्वरों को ह्रस्व के रूप में उच्चरित
किया जाता है। संभवतया इसी कारण से कुमाउँनी कविताओं और
लोकगीतों में आ, ए, ऐ और ओ ध्वनियों के ह्रस्व-दीर्घ रूप को
स्वीकार्यता मिली है, भले ही उनके ह्रस्व-दीर्घ चिह्न सर्वत्र और
सदैव अंकित न किए गए हैं।

सौष्ठव :

कुमाउँनी एक जीवन्त और प्राणवान भाषा है। उसके विपुल शब्द-भंडार के अनेक शब्दों में अदभुत लाक्षणिकता और अप्रतिम भाव प्रकाश की क्षमता है। कुमाउँनी बोलियों में रूप, ध्वनि और अर्थ-द्योतन की दृष्टि से अनेक विशिष्टताएँ हैं। इसका हाजमा भी बड़ा सशक्त रहा। अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं के शब्दों को कुमाउँनी ने बड़ी आसानी से अंगीकार करते हुए अपनी ही वृत्ति में ढाल दिया। इसकी संवेदनशीलता और संप्रेषणीयता विलक्षण है। रूप, रस, गंध तथा विभिन्न प्रकार के स्वादों के द्योतनार्थ इसमें असंख्य शब्द हैं, उदाहरणार्थ-

झसकीण, रणीन, झोप, झस शब्द क्रमशः डर, आवेग, आन्तरिक व्यथा एवं निराशा को चित्रित करते हैं। रसों का बोध कराने के लिए चरपर (चटपटा), कलकुट्ट (नमक का आधिक्य, तुलनीय गढ़वाली में 'लुण कुट्ट', लसिपसि (चिकनी और गाढ़ी), दुड़बुड़ (गाढ़ा), कुकैल (कच्ची अरबी खाने से गले में होने वाला कष्ट; खरांस गढ़वाली में 'किंक्वाळि') आदि अनेक शब्द हैं। विभिन्न प्रकार की गंध को बोधित कराने के लिए कुमाउँनी में कई शब्द हैं। इस प्रकार के शब्द सामान्यतः 'ऐन' प्रत्ययान्त हैं यथा- सुनैन (अच्छी सुगंध) तमैन (तांबे के बरतन से आने वाली गंध), द्यरैन (मांस के ढेर की गंध), मचैन (जी मचलाने की स्थिति), बकैन (ऐसी दुर्गन्ध जिससे उबकाई आती हो), पितवैन (पीतल के बर्तन के प्रभाव से आने वाली गंध), ल्वहरैन (लोहे के बर्तन से आने वाली बदबू) आदि। गढ़वाली में स्वाद, गंध आदि के लिए 'आँण, आट' प्रत्ययों का अधिक प्रयोग होता है।

कुमाउँनी भाषा इतनी अधिक अभिव्यंजनाशक्ति वाली है कि अति समृद्ध साहित्य और शास्त्र-सम्मत भाषाएँ भी उसके समक्ष निर्बल दिखाई देती हैं। इसमें प्रत्येक भाव को व्यक्त करने के लिए अनेक भाववाचक शब्द बन जाते हैं। यही नहीं, क्रियाओं के धातु रूप या अनुकरण पर आधारित शब्दों का भी इस भाषा में प्राचुर्य है। 'आट' प्रत्यय से जुड़े इस प्रकार के अनुरणनात्मक शब्दों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

बड़बड़ाट (जोर-जोर से बोलना), आँच्याट (उकताना), छैल्याट (शेखी दिखाना), गड़गड़ाट (बादलों का गरजना), खड़खड़ाट (खड़-खड़ की आवाज), रमरमाट (दाँत पीसना), सुसाट (पानी के तेज बहाव की

कुमाउँनी भाषा : स्वरूप और सौष्ठव

आवाज़), कलकलाट (शोर), घिंणमिणाट (नगाणों की आवाज़), खौँस्याट (मन ही मन कुढ़ना), टुंटाट (पीं पीं की आवाज़), दणदणाट (तेज वर्षा) आदि। ध्यातव्य है कि इनमें से कई शब्द गढ़वाली में भी लगभग उसी रूप और अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

कुमाउँनी में हृदय के अन्तरतम भावों को व्यक्त करने के लिए अनेक स्थानिक शब्द हैं। किसी कार्य को विशेष उत्साह और उल्लास से करने के लिए 'रौँक' (तुलनीय गढ़वाली 'रौस') कहा जाता है। इससे ही मिलता-जुलता शब्द 'हौँस' में पूरा जोश, तीव्र, रुचि और पूर्ण निष्ठा निहित है। 'ट्वकण' एक ठेठ कुमाउँनी शब्द है, जिसका अर्थ है बलैया लेना, इसमें अपार स्नेह छिपा है। 'व्योम' (मन रमाना या बहलाना) से अनेक शब्द बनते हैं, जैसे बिलम्योण (मन में हलचल), विवमाण (मन रमाना) आदि। पड़ोसी भाषा गढ़वाली में बच्चों का ध्यान पलटने या उन्हें व्यस्त रखने के लिए इसी से मिलता-जुलता शब्द 'बिलमाण/ब्यळमाण' है।

चुनौतियाँ

हालांकि खसपरजिया बोली की कुमाउँनी की मानक भाषा के रूप में चर्चा होती रहती है और अवश्यमेव इसमें अन्य बोलियों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत परिनिष्ठित और व्यापक साहित्य है फिर भी कई विद्वानों का मत है कि इस बोली में भी वह निश्चितता, स्थिरता, योग्यता, श्रेष्ठता आदि गुण नहीं पाए जाते जो इसे सर्वमान्यता प्रदान कर सके। सभी को ज्ञात है कि मानकीकरण से भाषा में एकरूपता, स्थिरीकरण और विस्तार आता है। व्याकरण के निर्माण में इससे सहायता मिलती है। भाषा और साहित्य का विकास होता है। इसके अभाव में अनेक बोलियों के उच्चारणगत, ध्वनिगत और व्याकरणिक प्रयोगों में विविधता बनी रहेगी, जो लगभग सभी पार्वत्य प्रदेशों की भाषाओं में दिखाई देती है। गढ़वाली के समान ही कुमाउँनी भी मानकीकरण की समस्या से जूझ रही है कुमाउँनी भाषा के डॉ. शेरसिंह बिष्ट सदृश अनेक भाषाविद् इसका समाधान ढूँढ़ने में प्रयासरत हैं।

आज कुमाउँनी भी अपनी अस्मिता की पहचान, मान्यता, अनुरक्षण और प्रगति के लिए संघर्षरत हैं। समुन्नत और संपन्न साहित्य के होते हुए भी संविधान की आठवीं अनुसूची में अभी तक भी, गढ़वाली की ही भाँति उसे भी

उत्तराखण्ड की लोकभाषाएँ : स्वरूप और चुनौतियाँ

स्थान नहीं मिल पाया। यहाँ जनसंख्या के पलायन के साथ-साथ भाषा का भी विस्थापन हो रहा है। नयी पीढ़ी अपनी मातृबोली से विमुख होती जा रही है। अन्य भाषाओं के लेखकों की अपेक्षा आंचलिक भाषा-बोलियों के साहित्य-सृजक समतुल्य सम्मान, मान्यता, संसाधनों और श्रेय से वंचित रह जाते हैं। फिर भी हम भूलें नहीं कि कुमाउँनी एक गतिशील, प्राचीन और जीवंत भाषा है। उसकी अपनी समृद्ध और सुदीर्घ परंपरा रही है। उसके समयान्तर्गत अनुरक्षण, परिष्करण और समुचित परिवर्धन तथा बहुमुखी विकास के लिए कुमाउँनी में उसके ही अपने अनेक मेधावी, श्रमशील और प्रतिष्ठित विद्वान विद्यमान हैं।

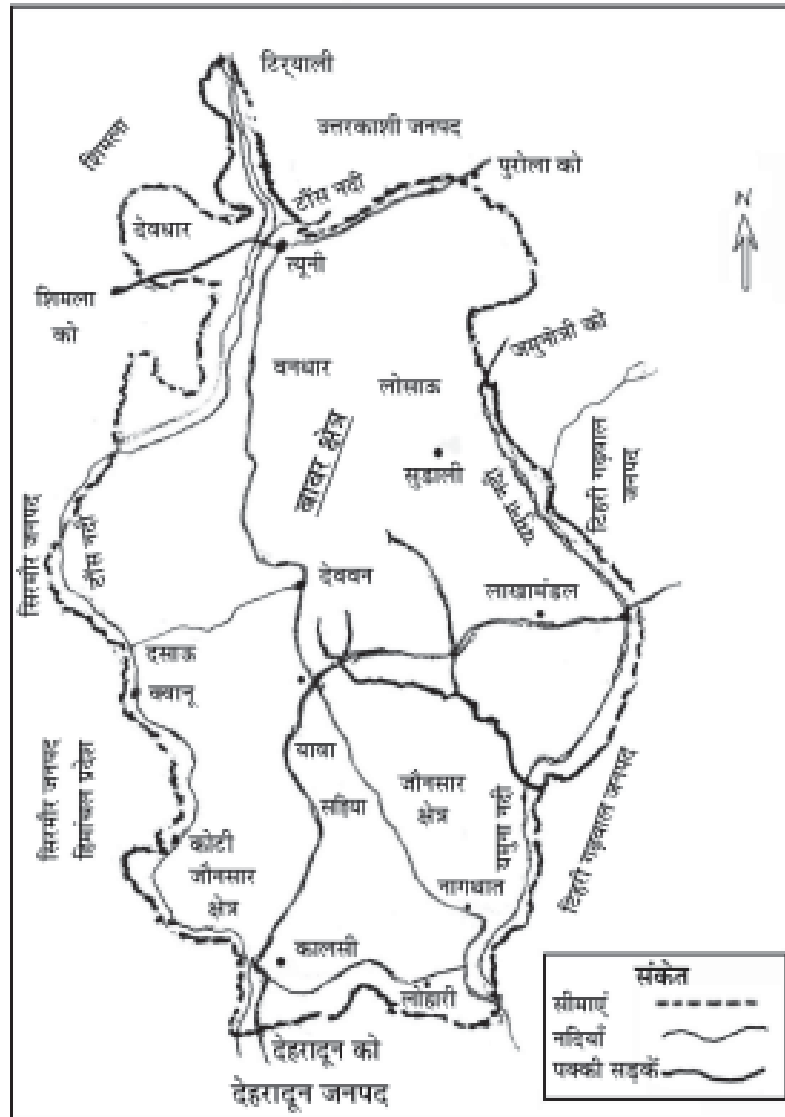


संदर्भ :

1. डॉ. जॉर्ज ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया
जिल्द 9, खंड 4
2. राहुल सांकृत्यायन : हिमालय परिचय
3. डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय : कुमाउँनी भाषा और उसका साहित्य
4. डॉ. गुणानन्द जुयाल : मध्य पहाड़ी भाषा (गढ़वाली-कुमाउँनी)
और उसका अनुशीलन
5. डॉ. भवानी दत्त उप्रेती : कुमाउँनी भाषा का अध्ययन
6. प्रो. डी.डी. शर्मा : लिंग्विस्टिक हिस्ट्री ऑफ़ उत्तराखण्ड
7. डॉ. नारायण दत्त पालीवाल : कुमाउँनी-हिन्दी शब्दकोश
8. डॉ. गोविन्द चातक : मध्य हिमालयी भाषा : सामर्थ्य और
संवेदना
9. डॉ. केशवदत्त रुवाली : कुमाउँनी-शब्दावली का व्युत्पत्तिपरक
अध्ययन
10. डॉ. शेरसिंह बिष्ट : कुमाउँनी भाषा का उद्भव और विकास
11. डॉ. देवसिंह पोखरिया : कुमाउँनी भाषा एवं संस्कृति
12. डॉ. भगतसिंह : कुमाउँनी बोली का वर्णनात्मक
अध्ययन।

जौनसारी का भाषायी क्षेत्र

जौनसारी का भाषायी क्षेत्र (अनुमानित मानचित्र)



उत्तराखण्ड की लोक-भाषाओं में जौनसारी की अवस्थिति

जौनसार और जौनसारी

‘जौन’ तथा ‘सार’ के योग से निर्मित जौनसार एक स्थानवाचक शब्द है जिस पर ‘ई’ तद्भव प्रत्यय लगाकर इस क्षेत्र में व्यवहृत बोलियों और भाषा का बोध कराया जाता है। देहरादून जनपद के उत्तरी भाग में स्थित इस अनुसूचित जनजातीय भू-भाग को जौनसार बावर भी कहा जाता है। जौनसार तथा इसके उत्तर-पूर्वी भाग में स्थित जौनपुर में आए ‘जौन’ की व्युत्पत्ति के संबंध में दो मत हैं। प्रथम वर्ग के विद्वान इस समस्त क्षेत्र के आदिवासियों की वेश-भूषा, खानपान, रहन-सहन तथा रीति-रिवाजों को देखकर ‘जौन’ शब्द की निष्पत्ति सादृश्यमूलकता के आधार पर यौन > यवन से जोड़ने का लालच कर बैठे। तदनुसार अरब इतिहासकार अल्बरूनी ने जौनसार को ‘यवनसार’ से निष्पादित कर दिया था, यथा स्कन्दपुराण के केदारखंड (अ० 131-132) में उल्लिखित तथा यमुना नदी के पूर्वी भाग में स्थित ‘यौनि’ पर्वत के ‘यमुनेश्वरी’ तथा ‘यवनेश’ नामों को देखकर एटकिन्सन (हिमालयन ड्रिक्ट्रिक्स 2, 1884) सदृश कुछ अन्य लेखकों ने भी जौनसार शब्द को ‘यवन’ से व्युत्पन्न मान लिया।

परन्तु राहुल सांकृत्यायन प्रभृति अनेक भाषाशास्त्री उपर्युक्त धारणा से सहमति नहीं रखते। उनकी तर्कसंगत मान्यता है कि सुप्रसिद्ध जमुना (यमुना) नदी के आसपास बसे होने के कारण जौनपुर और जौनसार इलाकों को ‘यवनशाल’ और ‘यमुनपुर’ कहा जाता था, जिसका कालान्तर में विकृत रूप जौनसार और जौनपुर प्रचलन में आए।

जौनसार शब्द का उत्तरांश ‘सार’ स्थानसूचकता का बोधक है। मध्यपहाड़ी (गढ़वाल-कुमाउँ) क्षेत्र के कई गाँवों के अंत्य भाग में ‘सार’ या ‘सऽर’ नाम से भी जाने जाते हैं। जौनसार क्षेत्र को ‘जौनसार बावर’ भी कहा जाता है। संभवतया यहाँ के उत्तरी भाग में प्रवाहित होने वाली नदी ‘पवार’ (पब्बर) के आधार पर यह बावर शब्द निष्पन्न हो।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रकृति की असीम संपदा, सुषमा और लावण्य से परिपूरित इस क्षेत्र का अतीत बाह्य संसार के लिए अनजान और अज्ञात रहते हुए भी अत्यंत गौरवशाली माना जाता है, भले ही उसके ऐतिहासिक प्रमाण अत्यल्प हों। प्रागैतिहासिक काल में यह 'हिमवंत' और 'देवभूमि' नाम से भी ज्ञात था। हिमवन्त एक वैदिक शब्द है। इसका उल्लेख ऋग्वेद (मंडल 10, सूक्त 121, मंत्र 4) में 'हिमवन्त यस्य महित्वा आहुः' के रूप में आया है, महाभारत के अनेक स्थलों, पात्रों तथा घटनाओं से जौनसार क्षेत्र संबद्ध किया जाता है। हिडिम्ब पर्व में उल्लिखित 'एकाचक्री' को अब इतिहासकार वर्तमान चकराता तथा लाखामंडल को लाक्षागृह और वरुणावत का अत्याधुनिक रूप मानते हैं।

प्राक् बुद्धकालीन जिन जनपदों के नाम पाणिनि व्याकरण में दिए गए हैं उनमें परिगणित 'कालकूट' और 'कुलिन' को डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल वर्तमान जौनसार के प्रवेश द्वार कालसी से जोड़ते हैं जो कुणिन्दों की राजधानी भी रही। सम्राट अशोक का सुप्रसिद्ध शिलालेख यहीं स्थित है। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ई.पू. छठी शती तक कालसी व्यापार का मुख्य केन्द्र था। मगध से गान्धार तक जाने वाले व्यापारियों के लिए यह एक विश्रामस्थल रहा। चीनी यात्री ह्वेनसांग यहाँ आया था। लाखामंडल प्रशस्ति में अंकित 'सिंहपुर' को कुछ इतिहासविद् ह्वेनसांग के यात्रा विवरणों में उल्लिखित 'सेंग-हो-पु-लो' से भी जोड़ते हैं। तृतीय शती में शीलवर्मन के चार अश्वमेघ यज्ञ यमुना तट से सटा बाड़वाला के 'इष्टका' लेखों में उल्लिखित हैं जिनमें इस नरेश की यशोगाथा भी वर्णित है। आस्त्रिक परिवार की अनेक आदिम जातियों के अतिरिक्त यहाँ नाग, कुणिन्द, तंगण, किरात, किन्नर, खश आदि अनेक अनार्य जातियाँ भी निवास करती थीं। खशों का इस क्षेत्र पर विशेष प्रभाव रहा। कृषि-कार्य तथा पशुपालन की प्रेरणा खशों से ही मिली होगी। वैसे वर्तमान में जौनसारवासी अपने को आर्यवंशी मानते हैं। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि खश भी आर्य ही थे, परन्तु वैदिक आर्य नहीं।

जौनसार-बावर अंचल एक दीर्घ अवधि तक इसके पश्चिम भाग में स्थित सिरमौर (हिमाचल प्रदेश) स्टेट के अधीन रहा। कई वर्षों तक यह क्षेत्र अनजान था। सन् 1824 में जी.आर.सी. विलियम्स इसे विश्व पटल पर लाए। सन् 1815 के बाद अंग्रेजों द्वारा गढ़वाल-कुमाउँ क्षेत्र अपने आधिपत्य में लिए

उत्तराखण्ड की लोक भाषाओं में जौनसारी की अवस्थिति

जाने के पश्चात् जौनसार बावर भी उनके प्रशासनिक अधिकार में आ गया। परन्तु इसके प्रत्यक्ष प्रबंधन के प्रति उन्होंने कोई रुचि प्रदर्शित नहीं की। स्वातंत्र्योत्तर काल के कुछ वर्षों बाद तक भी स्थानीय प्रशासन यहाँ के 'स्याणों' (बुजुर्ग अनुभवी व्यक्तियों) के पास ही रहा। साठ के दशक में इस क्षेत्र को गढ़वाल मंडल के अन्तर्गत देहरादून जनपद की एक तहसील के रूप में सम्मिलित किया गया जिसका मुख्यालय चकराता में स्थित है। अब यहाँ तीन तहसीलें हैं- चकराता, कालसी और त्यूनी।

अमर शहीद केसरीचन्द और रण बांकुरा नंतराम नेगी यहाँ के प्रमुख बलिदानी और वीर माने जाते हैं।

सीमाएँ और भौगोलिक संरचना

जौनसार बावर उत्तरी अक्षांश 30 डिग्री से 31 डिग्री एवं पूर्वी देशान्तर 70 डिग्री से 78 डिग्री के मध्य स्थित है। पूर्व में यमुना नदी तथा टिहरी गढ़वाल जनपद; पश्चिम में तमसा (टौंस) नदी तथा हिमाचल प्रदेश का सिरमौर जनपद; उत्तर में रवाई क्षेत्र तथा उत्तरकाशी जनपद तथा दक्षिण में देहरादून जनपद की विकासनगर तहसील से आवृत इस क्षेत्र की भूतलीय आकृति और संरचना बहुत जटिल और विविधतापूर्ण है। असीम प्राकृतिक सौन्दर्य और लावण्य से लहलहाता यह भू-भाग अपनी भौगोलिक संपदा, अलभ्य जड़ी-बूटियों और विशिष्ट उत्पादों के लिए प्रख्यात है। हिम, वायु तथा जल-धाराओं ने काट-काट कर इस क्षेत्र को अनुपजाऊ, बीहड़, ऊबड़-खाबड़ स्वरूप दे दिया है। यहाँ प्रवाहित होने वाली नदियों में टौंस, यमुना, पाबर तथा अमलावा प्रमुख हैं।

जौनसार बावर का कुल भौगोलिक क्षेत्र लगभग 1000 वर्ग कि.मी. है, जिसका 70 प्रतिशत भूभाग वनाच्छादित है। कृषि-योग्य भूमि अत्यल्प है। धरातल की ऊँचाई 1450 फीट से लेकर 9500 फीट तक है। उच्चतम शिखर 9023 फीट पर स्थित खंडवा है। प्रमुख नगर चकराता की ऊँचाई लगभग 7000 फीट है। अक्टूबर से मार्च तक, वर्ष का आधा भाग, शीत के प्रभाव से ग्रसित रहता है। खश प्रभावित गढ़वाल, कुमाउँ, नेपाल आदि प्रदेशों की भाँति, प्राचीन काल से ही कृषि और पशुपालन यहाँ का भी मुख्य व्यवसाय रहा है। इसीलिए जौनसारी भाषा की शब्दावली में कृषि और पशुपालन विषयक शब्दों

का आधिक्य मिलता है। वस्तुतः एक ऐसा भी समय था जब यहाँ के निवासियों को यह ज्ञात ही नहीं था कि कृषि और पशुपालन के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य इस धरती पर संभव हैं। गेहूँ, जौ, मटर, चना, मंडुवा, मक्का, चेणी, काऊँणी, झंगोरा आदि यहाँ की मुख्य फसलें हैं। व्यावसायिक उद्देश्य से नकदी फसलों (Cash Crops), यथा-राजमा, आलू, अदरक, गागली, मटर, टमाटर के उत्पादन पर अब अधिक बल दिया जा रहा है। सेब, खुमानी, चुल्लू, आड़ू, अखरोट मुख्य फल हैं। पालतू पशुओं में गाय, भैंस, बैल, भेड़, बकरी, सुअर, खच्चर आदि प्रमुख हैं। भेड़ को यहाँ पवित्र और पूज्य माना जाता है। उसका मांस खाना उचित नहीं समझा जाता। खाली समय में स्थानीय व्यक्तियों को भेड़ों की ऊन कातते देखा जा सकता है।

जौनसार बावर की कुल जन संख्या सवा लाख के आस-पास है। लिंग-अनुपात में महिलाओं की अपेक्षा पुरुष अधिक हैं। नृवंशीय तत्त्वों को दृष्टिगत रखते हुए जौनसार-निवासियों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है- 1. खश मूल या आर्य वंशीय निवासी-गौरवर्ण, तीक्ष्ण और प्रखर नासिका, उन्नत भाल, लम्बा कद, सुडौल शारीरिक संरचना, और 2. आस्त्रिक परिवार के नेग्रिटो ऑस्ट्रोलाइड मूल के आदिवासी।

धार्मिक स्थलों में हनोल, टगरी, लाखामंडल (शिवमंदिर के लिए प्रसिद्ध), लकस्यार (महासू मंदिर), मैन्द्रस्थ (देवलाड़ी मंदिर) अधिक ख्यात हैं। पर्यटकों के लिए हनोल, लाखामंडल, कालसी, नागनाथ, लखवाड़, बैराटगढ़ दर्शनीय स्थल हैं। चकराता जानामाना 'हिल स्टेशन' है। बैराटगढ़ को महाभारत कालीन राजा विराट से जोड़ा जाता है, जहाँ पांडवों द्वारा उनके रसोई कक्ष में वेश बदलकर एक वर्ष बिताने की जनश्रुति है।

जातीय और सामाजिक परिप्रेक्ष्य

जौनसार बावर को सन् 1967 में जनजातीय घोषित करते हुए अनुसूचित वर्ग में रख दिया गया था। कोल, दरद, मंगोल, यक्ष, गंधर्व, नाग, यतन, तुषार, बबई आदि यहाँ के मूल निवासी बताए जाते हैं। कालान्तर में तंगण, किरात, किन्नर, कृणिन्द और विशेषतः खशों का यहाँ अधिक प्रभाव रहा। इन जातियों के अनेक शब्द अभी भी जौनसारी में विद्यमान हैं। वैदिक आर्यों के आगमनोपरान्त उनका भी यहाँ प्रभुत्व रहा। यहाँ वेदस् और संस्कृत से व्युत्पन्न कुछ शब्द अभी

उत्तराखण्ड की लोक भाषाओं में जौनसारी की अवस्थिति

भी सुरक्षित मिलते हैं।

पांडवों का इस क्षेत्र में प्रवेश और निवास के प्रमाण पौराणिक और पुराकालिक हैं। अनेक जनश्रुतियाँ इन्हीं के कार्यकलापों पर आधारित मिलती हैं। यहाँ प्रचलित और बहुप्रचारित बहुपति प्रथा पांडवों की ही देन समझी जाती है। कई लोग स्वयं को कौरव-पांडवों के वंशज भी समझते हैं।

यह क्षेत्र बहुपति प्रथा के कारण अधिक ख्यात रहा है, जो दीर्घ अवधि तक सैलानियों और समाजशास्त्रियों के लिए विशेष कौतूहल और आकर्षण का केन्द्र रहा। देहरादून स्थित डी.ए.वी. कॉलेज के प्रिंसिपल रहे डॉ. आर.एन. सक्सेना ने इसी रोचक विषय (Polyandrous People of Himalayas) पर शोध प्रस्तुत करते हुए डॉक्टरेट की डिग्री प्राप्त की थी। शिक्षा के प्रसार और प्रचार के साथ-साथ यह प्रथा अब समाप्तप्राय है, परन्तु इसने कुटुम्ब और संयुक्त परिवार संस्था को सुदृढ़ बनाया। सभी भाइयों की एक ही पत्नी होने के फलस्वरूप परिवार एकजुट और भूमि अविभाजित रही। इस संदर्भ में कुछ वर्ष पूर्व एक पत्रिका में जौनसार क्षेत्र के चिल्हाड़ निवासी पं. माधोराम बिजलवाण का 150 सदस्यों का संयुक्त परिवार विषयक आलेख का प्रकाशन देश-विदेशों में जिज्ञासा और चर्चा का केन्द्र रहा।

जौनसार निवासी सामान्यतः धर्मभीरुता, सादगी, सारल्य, ईमानदारी और विशिष्ट चारित्रिक गुणों के लिए जाने जाते हैं। यहाँ अधिकांशतः अभी भी घरों में ताला नहीं लगाया जाता। संगठन शक्ति, समतामूलक सामूहिकता, सहयोग और दुख-सुख में भागीदारी यहाँ के समाज की विलक्षण शक्ति होती है।

सांस्कृतिक वैभव

पिछड़ा और पार्वत्य प्रदेश होने के उपरान्त भी इस क्षेत्र के निवासी अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक संव्यूहन के लिए प्रख्यात हैं। अपनी असाधारण मान्यताओं, आस्थाओं, रीतिरिवाजों और परंपराओं के कारण उनका स्वतंत्र प्रत्यभिमान अभी भी अक्षुण्ण है। स्वभाव से धर्मनिष्ठ जौनसारी मुख्यतः हिन्दू मतावलंबी हैं। महासू देवता इनका सर्वाधिक पूज्य और प्रिय इष्टदेव है। महासू देव के चार रूप हैं। हनौल के अतिरिक्त इस देव के अन्य मंदिर थैना स्थित बिसोई, लखवाड़, लकस्यार में भी हैं। कुकरसी देवता यहाँ का एक अन्य क्रोधातु स्वभाव का तामसिक देव है, जिन्हें प्रसन्न करने के

लिए अभी भी पशुबलि चढ़ाई जाती है। भद्रकाली सिद्ध पीठ मनौतियों के पूर्णार्थ प्रसिद्ध है। बालासुंदरी में शक्ति-पूजा होती है। देववन को अनेक देवी-देवताओं का आवास बताया जाता है। भारत के कई अन्य पिछड़े इलाकों की भाँति जौनसारी लोग अत्यधिक अंधविश्वासी होते हैं। उनकी आस्था मंत्र-तंत्र, झाड़-फूँक, जादू-टोना-टोटका, भूत-प्रेत, गंड-तावीज आदि में अधिक होती है। बीमारी और अन्य शारीरिक दुर्बलताओं को वे देवताओं या भूत-प्रेतों के प्रकोपजन्य मानते हैं, जिसका उपचार डॉक्टर की अपेक्षा उपर्युक्त विधियों अथवा बलि देकर किया जाता है। भूत-प्रेत के प्रकोप से बचने के लिए लोग सूर्यास्त से पूर्व ही घर वापस आ जाते हैं।

बिस्सू, जागड़ा, दिवाई (दीपावली), पाँचों (दशहरा), नुड़ाई (भेड़ों का मेला) तथा माधमेला यहाँ के प्रसिद्ध पर्व हैं। दीपावली शेष भारत से एक माह बाद मनाई जाती है। जौनसार बाबर मेलों और उत्सवों का पौराणिक क्षेत्र है। मनोरंजन के प्रमुख साधन और सामूहिकता को बढ़ावा देने में इनका प्रमुख योगदान रहा है। मौँण (मछली पकड़ने का मेला) एक प्रसिद्ध सामूहिक उत्सव है। मेला-पसन्द और उत्सवप्रिय जौनसारी महिलाओं को बारबार आने वाले इन पर्वों में सम्मिलित होने के लिए सजने-संवरने का अच्छा अवसर प्राप्त हो जाता है।

नृत्य और गीत का आधिक्य इन मेलों और पर्वों में विशेष आकर्षण का केन्द्र होता है। लाल, पीले, नीले, हरे चटकीले रंगों के घाघरों और अन्य परिधानों में सिर पर 'ढाँटु' (साफा) लगाए अनेक आभूषणों से लदीं और सजी संवरी इन महिलाओं को मेलों-ठेलों में अनेक झुंडों में हँसते-खेलते और अनेक मनभावन नृत्य गीतों में प्रफुल्लित देखा जा सकता है, इनकी मान्यता है कि -

हँसनों बले खेलनों एथू जुगऽरो भलो

मरी जाण माणसे परोजुगऽ कसीनों हुलो

(हँसना खेलना मनुष्य के लिए इसी मृत्युलोक में संभव हैं। एक दिन सभी को मरना है। उस लोक में न जाने क्या होगा? इसलिए नृत्य गीतों की यह मुराद इसी जन्म में हँस-खेल कर पूरी कर लेनी चाहिए।)

ठुमकिया बराड़ी, गुंडियारास, घुमसू, जंगबाजी, पौवई, मंडावाला, प्रेतों, इनके प्रमुख नृत्यगीत हैं। वाद्यों में ढोल-रौंटी, जिब्या, शंख, डंडी, सिगई, बीन, बंसरी, हुडकी, ढपली, मृदंग, रणसिंहा, भेरी, सुरी, नगाड़ा आदि

उत्तराखण्ड की लोक भाषाओं में जौनसारी की अवस्थिति

प्रमुख हैं। बाजगियों का यहाँ बहुत महत्त्व है। छुआछूत का अधिक प्रचलन नहीं है। महिलाएँ समस्त घर का संचालन करती हैं। समाज में उन्हें विशेष सम्मान प्राप्त है। खेण्डा, लेम्बड़ा, असके, पिनुर्वे, चिलड़े, शिरकुए, गुडबुए, इंडेरा मुख्य स्थानीय व्यंजन हैं। कोदुआ (रोटी) प्रतिदिन का खाद्य है। शीत के प्रकोप के रक्षणार्थ कुसके (बिच्छूघास) का साग अति चाव के साथ खाया जाता है। जीवन-यापन की समस्त व्यवस्था स्थानीय उत्पादों पर आधारित हैं।

लिपि और भाषा

उत्तराखण्ड राज्य की अन्य दो क्षेत्रीय भाषाओं – गढ़वाली और कुमाउँनी का समृद्ध साहित्य देवनागरी लिपि में बद्ध मिलता है। इनकी कोई स्वतंत्र लिपि नहीं है। इसके विपरीत कुछ जौनसारी लेखक अपनी स्वतंत्र लिपि घोषित करते हैं जिसके नमूने कुछ सीमित लेखों में ही उद्धरित मिलते हैं। इसमें देवनागरी के पाँच अक्षर– ज, ष, क्ष, त्र और ज्ञ नहीं हैं। कुल मिलाकर बारह स्वर और पैंतीस व्यंजन हैं। लिपि-चिह्नों की बनावट देवनागरी के ही सदृश है। इस लिपि में बद्ध अत्यल्प ज्योतिष-ग्रंथों को ‘बागोई’ (साँचा) कहा जाता है। परन्तु यह लिपि कुछ प्राचीन ज्योतिष पोथियों तक ही सीमित रही, विशेष प्रचलित नहीं हो पाई। आजकल यहाँ देवनागरी लिपि का ही प्रयोग होता है।

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने अपने सुप्रसिद्ध भाषा-सर्वेक्षण (सन् 1894-1927) के जिल्द 9, खंड 4, पृ. 383 पर जौनसारी को इसके पश्चिम भाग में स्थित सिरमौरी की ही एक बोली मानकर ‘मध्यपहाड़ी’ (गढ़वाली-कुमाउँनी) की अपेक्षा ‘पश्चिमी पहाड़ी’ (हिमाचली) के अन्तर्गत रखा। उन्होंने सरसरी तौर पर कह दिया कि जौनसारी हिमाचल प्रदेश के सिरमौर जनपद में व्यवहृत सिरमौरी से मिलती-जुलती है। इसके विपरीत गढ़वाली भाषा के अनेक भाषाविद् ग्रियर्सन के इस वर्गीकरण से सहमत नहीं हैं। श्यामचन्द नेगी, चक्रधर बहुगुणा, बुद्धिबल्लभ थपलियाल, डॉ. हरिदत्त भट्ट ‘शैलेश’, प्रो. डी. डी. शर्मा प्रभृति अनेक विद्वान् जौनसारी को श्रीनगरी, सलाणी, जौनपुरी, रँवाल्टी आदि बोलियों की भाँति गढ़वाली की ही एक बोली मानते हैं। श्यामचन्द नेगी को इन दोनों भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान था। अपनी उपर्युक्त धारणा के प्रमाणस्वरूप उन्होंने अपनी पुस्तक ‘गढ़वाली’ के पृष्ठ 2 पर दोनों भाषाओं के निम्न तुलनात्मक अंश प्रस्तुत किए हैं—

जौनसारी	गढ़वाली
<p>एजि बड़ी खुसी की बात अ कि गड़वाड़िये अरे जौणसारिये एक ई कुटुमी के अ। ऐसा काई न ओ? जौणसार बावर पुराणें जमाना से ई केदारखंड का हिस्सा अ, जैथु कि अचकाला गडवाड़ बोलों। जौणसारिये का रीति, रिवाज, खाणो-पीणो, देवघाम नी तस्ने ई जस्ने गडवाड़िये के अ, गडवाड़िये अर जौणसारिये का साई-सगाई, खाणा पीण पोइले से लागिये। ये जे गडवाड़ी अर जौणसारि एक् वा अरे सढाई एकवे रंदे।</p>	<p>या बड़ी खुसी की बात छ कि गढ़वाली अर जौणसारी एक ई कुटुम का छन। इनु किलै नि होण? जौणसार बावर पुराणा जमाना सी केदारखंड कू हिस्सा छ जै तैं अजकाल्यू गढ़वाल्यों बोदाना। जौणसारियों का रीति रिवाज, खाणू-पेणू, देवी-देवता बी, तन्नी छन जना गढ़वाल्यों का छन। गढ़वाल्यों अर, जौणसारियों कू रोटी-बैटी खाण-पेण कू सनबंद पैलि सि लग्यूं छ। यान गढ़वाली अर जौणसारी एक्की छन अब सदैँ एक्की रला।</p>

साहित्यिक पक्ष

जौनसारी में श्री रतन सिंह जौनसारी के अतिरिक्त किसी भी अन्य साहित्यकार का उल्लेख नहीं मिलता। उन्होंने भी लोकगीतों पर ही अधिक ध्यान दिया है। उनके कुछ लोकगीतों के संग्रह भी प्रकाशित हैं। इधर जौनसारी लोक गायिका शांति वर्मा के सुरों में बद्ध 18 एलबमों में संगृहीत गीतों की भी चर्चा है जिनमें उन्होंने क्षेत्र में व्याप्त कुरीतियों पर कुठाराघात किया है। परन्तु लिपि बद्ध न होने के कारण इनके भाषायी पक्ष पर कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

जौनसारी के समृद्ध लोकगीतों में 'सीलोग' ऐसी गायन शैली है, जिसे विलम्बित राग में टुकड़े-टुकड़े करके पद्याशों में गाया जाता है। अन्त में लम्बी तान और लय के साथ गीत का तारतम्य समाप्त किया जाता है। रतनसिंह जौनसारी का मत है कि 'सीलोग' शैली के गीतों में उन पुरखों की महिमा का वर्णन किया जाता है, जिन्होंने अनेक राक्षसों का वध करके मानव जाति की सुरक्षा की थी।

उत्तराखण्ड की लोक भाषाओं में जौनसारी की अवस्थिति

कुमाउँनी और गढ़वाली के आदिकालीन साहित्य की भाँति जौनसारी में भी मौखिक 'जागर' गीतों की लंबी परिपाटी रही है। जौनसारी के इन जागर गीतों में पांडु-पुत्र युधिष्ठिर, महाबली भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव तथा उनकी माताश्री कुन्ती का आह्वान करते हुए रात्रिभर जागरण किया जाता है। इन गीतों के गायक 'जागरी' कहलाते हैं। 'हारूल' गीत दीपावली के अवसर पर गाए जाते हैं।

अन्य पार्वत्य प्रदेशों के वासियों की भाँति जौनसारी लोग भी अति संवेदनशील होते हैं। गढ़वाली के 'खुदेड़' गीतों की तरह यहाँ के अनेक गीतों में विरह और एकाकी जीवन के स्वर प्रतिध्वनित हैं। विरह-वेदना जन्य नवविवाहिता के प्राण कितने आकुल हो उठते हैं उस स्थान को देखने के लिए, जहाँ उसका स्नेहातुर प्रियतम निवास करता है। परन्तु 'कुरेड़ी' (कुहरा) की चादर ने पूरा क्षेत्र, समस्त वन प्रान्तर आच्छादित किया हुआ है। वह विकल होकर कहती है कि कब यह कुहरा छँटेगा और कब वह अपना परिवेश देख पाएगी-

एटे मात्ये कुरेड़ी, उन्दी रदी एगोड़ी मेसऽ

फुंडी उडान्दी कुरेड़ी देखण, देखण दे माइतीं रा देसऽ

यह 'कुरेड़ी' (गढ़वाली में 'कुयेड़ी') अपने प्रियतम, परिजन और परिवेश से बिलग दूरस्थ पर्वतीय बालाओं के लिए सदैव ही उदासीनता और उद्दीपन का कारक रही है। गढ़वाली भाषा-साहित्य के पुरोधे भजनसिंह 'सिंह' की 'खुदेड़ बेटी' भी आसपास व्याप्त 'कुमेड़ी' से व्यथित होकर निम्न हृदय-विह्वल भाव व्यक्त करती है-

मैतुड़ा (माँ का घर) बुलालि ब्वे; बोई (माँ) होलि जौंकी (जिनकी माँ होगी।)

मेरि जिकुड़िम (हृदय में) ब्वे (हे माँ); कुयेड़ि सी लौंकी (घुमड़-घुमड़ कर आती है)

लोकसाहित्य में लोकगीत जौनसारी की भाषाई विरासत है। लोकगीतों और लोकसंगीत के अनुपम मिश्रण से यहाँ की सांस्कृतिक चेतना का आभास मिलता है। श्री रतन सिंह जौनसारी ने इस क्षेत्र के कुछ लोकगीतों को देवनागरी लिपि में बद्ध करते हुए उन्हें वाह्य संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया है। वे इन लोकगीतों के प्रति पूर्णतः समर्पित हैं। लोकगीत शिल्प और भाव बोध की दृष्टि

से प्रभावोत्पादक प्रतीत होते हैं। इनके 'छोड़े' हिन्दी के कबीर और रहीम के नीति-परक दोहों के समान ही सारगर्भित हैं, यथा -

जौनसारी छोड़ा :

जात माणसैं जीणं, ता नूं रणं मनुडूया गुती ।
अए मणसांते मरी जाणं, खाड़े रणं खोबुडूया सुती ।

तुलनीय कबीर का दोहा :

कबिरा गर्व न कीजिए, काल गहे कर केस ।
ना जाने कित मारि, क्या घर क्या परदेश ।।
एक अन्य उदाहरण देखिए -

जौनसारी छोड़ा :

ऊँचे टिम्बुल्या लागो नाराणं, रूंदो ।
भूजो बीना जामेन्दो सूंचो बिना जिय रो हुन्दो ।।

रहीम का दोहा :

मन चाही होती नहीं, हरिचाही तत्काल ।
बलि चाहें थे स्वर्ग को, भेज दिया पाताल ।।

जौनसारी के लोकगीतों में 'छोड़ा' के अतिरिक्त जंगू, बाजू, हारूल, ठंडकिया, मांगलगीत, ऋतुगीत और मेले- त्योहारों में गाए जाने वाले श्रृंगार और विरह के गीत प्रमुख हैं। संयोग और वियोग श्रृंगार के उत्कृष्ट उदाहरण इन लोक गीतों में विद्यमान हैं। लोक की रीति और नीति तथा उससे विकसित व्यवहार के अनुरूप इन गीतों का कलेवर अपने सौम्य आचरण की अभिव्यक्ति करता है।

साहित्य का अभाव

यद्यपि गीतों के विशद भंडार में जौनसार क्षेत्र के सामाजिक जीवन और प्राकृतिक सुषमा का पर्याप्त चित्रण है, परन्तु लोक-साहित्य के अन्य अवयवों - लोककथा, लोकगाथा, जागरगाथा, आणे-पखाणें, मुहावरे और लोकोक्तियों तथा साहित्य की अन्य विधाओं - कथा साहित्य, नाटक, एकांकी, निबंध, जीवन चरित, आत्मचरित, व्यंग्य साहित्य, संस्मरण, यात्रा वृतांत आदि यहाँ तक कि गीत परंपरा में रचित किसी खंडकाव्य या महाकाव्य का भी कोई उल्लेख अभी तक उपलब्ध नहीं है। समस्त लोक-साहित्य अलिखित परंपराओं से अभी तक अभिशप्त है। भाषा का 'निकष' (कसौटी) तो गद्य है- 'गद्यं

उत्तराखण्ड की लोक भाषाओं में जौनसारी की अवस्थिति

कवीना निकषं वदन्ति'। सभी भाषाओं का विकास, प्रसार और प्रचार गद्य के माध्यम से हुआ। परन्तु जौनसारी में गद्य-रचना के तनिक भी अंश नहीं मिलते। 'हिमओज' पत्रिका के एक लघु लेख में जौनसारी के कुछ अति सामान्य संवाद इस प्रकार अंकित हैं -

जौनसारी

तेरा नाअं का अ ?
मेरा नाअं इन्द्रसिंग नेगी अ।
तू कोकी रआ लागी आन्दा ?
आऊँ ठाणेई रआ लागी आन्दा।
तू कोकी जान्दा ?
आऊँ हइनोड़ी जान्दा।
तू तेकी काई रआ लागी जान्दा ?

हिन्दी

आपका नाम क्या है ?
मेरा नाम इन्द्रसिंह नेगी हैं
आप कहाँ से आ रहे हैं ?
मैं ठाणा गाँव से आ रहा हूँ।
आप कहाँ जाएंगे ?
मैं हनौल जाऊँगा।
आप वहाँ क्यों जा रहे हैं ?

इसी प्रकार विभिन्न कार्यकलापों विषयक कुछ वाक्य गद्य में इस प्रकार हैं -
तू का काम करै ?
आऊँ खेती करं।
ताऊँक मिली बड़ी खुशी उई।
पच्छी आन्दुई फैर आया दारकै।
आप क्या व्यवसाय करते हैं ?
मैं खेती करता हूँ
आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई।
लौटते हुए फिर घर आएगा।

जौनसारी के भाषागत अध्ययन के क्षेत्र में कुछ भाषाविदों विशेषतः डॉ. उमाशंकर सतीश एवं प्रो. डी.डी. शर्मा ने श्लाघनीय कार्य किया है। कुछ पत्रिकाओं तथा ग्रंथों में डॉ. सतीश की तीन कृतियों का उल्लेख मिलता है- पी.एच.डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबंध, 1.'फोनोलॉजी एण्ड मॉर्फोलॉजी ऑव जौनसारी', (दिल्ली विश्वविद्यालय से सन् 1973 में स्वीकृत), 2.'जौनसार बावर की लोक कथाएं' तथा 3.'जौनसारी डिक्शनरी एंड टेक्स्ट्स'। रोमन लिपि में बद्ध और अधिकांशतः अप्रकाशित और अनुपलब्ध इन शोधपरक कृतियों के कुछ अंशों के उद्धरण अन्यत्र कुछ अंग्रेजी पुस्तकों में मिल जाते हैं। प्रो.डी.डी. शर्मा ने यहाँ के भाषा-क्षेत्र का विशेष अनुसंधानात्मक अध्ययन किया। उन्होंने स्वयं उस अंचल में जाकर वहाँ की विशिष्ट ध्वनियों, शब्दावली

और वाक्यांशों को टेपरिकार्ड करने के पश्चात् उनका विश्लेषण किया, जिनके कुछ प्रमुख अंश उनकी पुस्तक 'लिंग्विस्टिक हिस्ट्री ऑफ़ उत्तराखण्ड' में प्रकाशित हैं।

जौनसारी ध्वनियाँ

ध्यातव्य है कि पार्वत्य बोलियों में ध्वनि का विशेष महत्त्व है। यहाँ स्वरों में विभिन्न उच्चारणों का आधिक्य मिलता है। उदाहरणार्थ 'अ' ध्वनि किसी क्षेत्र में अर्ध-विवृत, पश्च, वर्तुल, अंग्रेजी के '0' वर्ण की भाँति, तो अन्यत्र उदासीन, दुर्बल, अश्रव्य सी अथवा विलंबित उच्चारण सहित सुनाई देती है। विलंबित, विश्रांति, ठहराव, दीर्घ विलंबित या अति प्लुत औच्चारणिक रूप को दर्शाने के लिए गढ़वाली और जौनसारी में वैदिक चिह्न 'ऽ' निर्दिष्ट मिलता है जिसे अंग्रेज़ी में neutral vowel की संज्ञा दी गई है। जौनसारी के भाषिक पक्ष पर उपलब्ध कुछ सामग्री अंग्रेज़ी भाषा में ही मिलती है, जिनका देवनागरी में लिप्यंतरण एक जटिल प्रक्रिया है। इससे कहीं-कहीं मूल ध्वनियाँ विकृत भी हो जाती हैं।

जौनसारी प्रभृति इन पर्वतीय बोलियों के विविध औच्चारणिक स्वरूपों को अंग्रेज़ी की रोमन लिपि में यथावत् लिप्यंतरित करना सामान्य लेखक और पाठक के लिए आसान नहीं होता। रोमन लिपि में केवल पाँच स्वर a, e, i, o, तथा u हैं जबकि मध्यपहाड़ी भाषाओं में स्वरों की परिगणना चौबीस तक की गई है। अतः रोमन लिपि इन बोलियों में आए स्वर-वैभिन्य को पूर्णतः दर्शाने में अक्षम है। अंग्रेज़ी भाषा में उपलब्ध कुछ लिंग्विस्टिक डिक्शनरियों में इन विविध ध्वनिरूपों के द्योतनार्थ कुछ वैशिष्ट्य दर्शक चिह्नों (Diacritic Marks) का प्रावधान है, परन्तु इन चिह्नों में भी समरूपता नहीं मिलती। उदाहरणतः उत्तराखंडीय तीनों भाषाओं-कुमाउँनी, गढ़वाली और जौनसारी में स्वर मुख्यतः चार रूपों में उच्चरित होता है- ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और अति प्लुत। रोमन में दीर्घ रूप दर्शाने के लिए संबद्ध वर्ण के ऊपर कहीं रेखा लगाई जाती है, यथा ām (आम), Kāth (काथ), āg (आग), Jātā (जाता), nīd (नीद), dūdo (डूँडो) आदि। कुछ ग्रंथों में इसके लिए प्रभावित वर्ण के ऊपर दो बिन्दु (¨) निर्दिष्ट मिलते हैं, जैसे - äpnö (आपणों), it (ईट), ukāl (उकाळ) आदि। रोमन लिपि का प्रयोग करने वाली कुछ भाषाओं में दीर्घ

उत्तराखण्ड की लोक भाषाओं में जौनसारी की अवस्थिति

मात्रा दर्शाने के लिए ^ चिह्न का प्रयोग भी मिलता है। प्लुत और अति प्लुत के लिए कुछ भी नहीं। प्रत्यक्षतः रोमन लिपि पहाड़ी भाषाओं के सभी ध्वनिगत और रूपगत विविधता को दर्शाने के लिए पूर्णतः समर्थ नहीं प्रतीत होती।

उर्दू, फ़ारसी, अरबी आदि भाषाओं की लिपि नस्तालीक में तो पहाड़ी ध्वनियों और स्वरों को लिप्यंतरित करना और भी कठिन है। इसमें केवल दो ही स्वर चिह्न हैं – अलिफ और ऐ'न। देवनागरी लिपि की मात्राओं को दर्शाने के लिए यहाँ ज़ेर ('इ' की मात्रा), ज़बर ('ऊ' की मात्रा), पेश ('ऊ' की मात्रा) चिह्न लगाने की व्यवस्था है, परन्तु इनका प्रयोग कहीं अनवधानता से, या अन्यत्र नहीं भी किया जाता है, 'ए' तथा 'ऐ' मात्राओं और ध्वनियों के लिए नस्तालीक के व्यंजन वर्ण 'याय', तथा 'ओ' – 'औ' के लिए 'वाव' के इस्तेमाल का प्रावधान है जो मध्यपहाड़ी के विभिन्न ध्वनिगत वैविध्य को पूर्णतः दर्शाने के लिए अपर्याप्त हैं। देवनागरी लिपि के ध्वनि – वैभिन्न्य को अंकित करने के लिए मिर्जा ख़ाँ ने अपने हस्तलिखित फ़ारसी ग्रंथ 'तुहफ़त-उल्-हिन्द' (रचनाकाल लगभग सन् 1675) के मुक़द्दिमः (प्रारंभिक वक्तव्य, भूमिका) अंश में 'दर् बयाने-मुस्तलहाते-हुरूफ़े-तहज्जियाए -हिन्दिया' (हिन्दी वर्णों एवं विशिष्ट ध्वनियों की वर्तनी तथा उच्चारण विधियों का विवरण) शीर्षकान्तर्गत सविस्तार विवेचन किया है। (इस अनुपम तथा परम उपादेय फ़ारसी हस्तलिखित ग्रंथ की एक प्रति, क्यूटेटर इंडिया ऑफ़िस लाइब्रेरी, लंदन के सौजन्य से इन पंक्तियों के लेखक को कुछ अवधि के लिए अध्ययनार्थ प्राप्त हुई थी।) शान्ति निकेतन के मियाँ ज़ियाउद्दीन ने इस भाग का कुछ अंश अपनी पुस्तक 'ए ग्रामर ऑव् ब्रजभाखा' में उद्धरण स्वरूप दिये हैं।

जौनसारी का 'पश्चिमी पहाड़ी' (हिमाचली) की अपेक्षा 'मध्य पहाड़ी' (गढ़वाली-कुमाउँनी) भाषाओं से अधिक साम्य

जॉर्ज ग्रियर्सन की यह अवधारणा कि जौनसारी बोली हिमाचल प्रदेश की सिरमौरी के अधिक निकट है, भाषिक और शब्दावली की दृष्टि से पुष्ट नहीं होती। दोनों का वैयाकरणिक और संरचनात्मक ढाँचा भिन्न है। दोनों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है। जौनसारी में 'ओकारान्ता' और 'ण' वर्ण की प्रधानता है जबकि सिरमौरी में 'अकार' तथा 'न' वर्ण अधिक मिलते हैं। कारक विभक्तियों के प्रयोग में भी अन्तर स्पष्ट है। इसी प्रकार वचनों की

संरचना, धातुपदों का रूप-साधन, प्रेरणार्थक परिवर्तन, कृदन्त रूपों एवं भविष्यकालीन प्रयोगों में भी जौनसारी भाषा गढ़वाली के अधिक निकट है। ध्यातव्य है कि मानव-भाषा के साम्य-वैषम्य को परखने के लिए मान्य चार आयामों पर जौनसारी का हिमाचल की सिरमौरी से कोई नैकट्य नहीं दिखाई देता। ये चार आयाम हैं- व्याकरण, उच्चारण, शब्दकोश, और लिपि।

इसके विपरीत जौनसारी के असंख्य शब्द तथा अन्य भाषिक तत्त्व निकटस्थ रवाँई, जौनपुरी एवं गढ़वाली की अन्य बोलियों से अधिक मिलते - जुलते हैं। गढ़वाली और जौनसारी के अनेक समान शब्द तनिक औच्चारणिक वैभिन्य सहित द्रष्टान्त स्वरूप निम्नवत हैं -

अकल, अगास, अंगार, अबेर, अर, आक, आँख, आग, आठ, आटो, आदिम, आम, आराम, आस, आँसु, इदयारो (अंध्यारों) इस्त्री, ईट, उकाळ, उधारणो, उड़णों, उपाड़णों, उसाणों, एक, ऐखुली (यखुलि), ऐत्वार, ओंठ, उड्यार, ओस, ओखोड़ (अखोड़े) काम, काल्हा, कुकुर, कुछ, कुल, खडाणों, खाडु, खाणों, खसकणों, खणण, गात, गाड़, गाबण, गौं, गुदड़ा, गुरौ, गूँण, गोर, घाघरा, घ्यू, घूम, घौर, चढ़णों, चक्कु, चार, चाण, चिट्टु, चिफलु, चूंचाट (च्यूँच्याट), चुल्लु, च्याला, छः, छणों, जवें, जाँद्रों, जागर, जातडु, जिक्कुड़ी, जारि, जीब, जूँ, जूँगा, जेटु, जोंक, जोड़णों, जोर, टेकणो, टोपि, टोपरि (ट्वपारि), ठंडो, टैरणु, तातु, तार, ताल, तीन, तीस, तु, तेरो, तेज, तेल, तोलणों, थल्लि, दाथड़ा, दादा, दूद, देखणा, देणा, धा (धाद), धाण, धोण, नरम, नाक, नाता, नाना, नाँगा, नून (लूण), नेड़ों।

पकाणों, पर, पाखा, पत्ता, पाणि, पातर, पौण, पीठ, पिस्सु, पेट, पोथि, पोर, फुकणों, बण, बाकरि, बाग, बाट, बाण, बाड़, बाबा, बाव (बाळ), बैण, बडण, बोलणों, व्वारि, भाग, भागणा, भात, भाड़ा, भितर, भूल, भोला, भौं, मलणों, माछां, मांजणो, माप, मामा, मांगज, मुंगरी, मुंड, मोरि, मोठ, मौ, यार, रांड (रंग), रात, रिण, रीतो, रुप्या, रूड़, लाणों, लाखड़ा, लाटा, लात, ल्वार, ल्वे, ल्हास, सासु, शिकार, सौकार, सौं, सदैं, साफ, सींग, सुंगर, स्यूँण, हप्ता, हाजिर, हिस्सा, हुक्का, ह्युँ, ह्युँद आदि।

स्मरणीय है कि पूर्वी कुमाउँनी की कुछ बोलियों यथा- सोर्याली, अस्कोटी और सीराली के कुछ भागों में भी ओकारान्तता की प्रकृति और प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसी परिप्रेक्ष्य में प्रो. डी.डी. शर्मा द्वारा किए गए जौनसारी,

उत्तराखण्ड की लोक भाषाओं में जौनसारी की अवस्थिति

कुमाउँनी और गढ़वाली के कुछ समान शब्दों के उदाहरण प्रस्तुत हैं-

जौनसारी	कुमाउँनी	गढ़वाली	हिंदी तदर्थी
बाँजो	बाँजो	बाँजो	(बंजर)
बाँठिन	बाँन	बाँद	(सुन्दर)
बऽढ़	बहड़	बऽऽड़	(बछड़ा)
ब्यूकि	ब्यौकि	ब्याखुलि	(सायंकाल)
बेया	बेल्या	ब्यालि	(बीता कल)
छाश	छाश, छाँ	छाँच	(मट्ठा)
चिट्टो	चिट्टो	चिट्टु	(धवल)
चोपड़	चुपाड़ो	चुपाड़ो	(चिपकने वाला)
डाँडो	डाँनो	डाँडु	(ऊँचे पर्वतीय स्थल)
धागुला	धागुला	धगुला	(चांदी के कंगन)
धाद	धाद	धाद	(आवाहन)
ढाडु	ढाडु	ढाडुडु	(बिल्ला, नर बिल्ली)
ढिंडा	ढिनोँ	ढिंडु	(गोलाकार वस्तु)
गाड़	गार	गाड़	(छोटी नदी)
गलड़	गालरोँ	गल्वा	(गाल)
घुगुति	घुगुति	घुगुति	(फाख्ता, कबूतर)
घुंडो	घुंडो/घुनो	घुंडु/घुंडो	(घुटना)
गूँणि	गूँणि	गूँणि	(लंगूर)
जून	जून	जून	(चंद्रमा)
बाँसुळि	बाँसुळि	बाँसुळि	(बंसरी)
कूडो	कूड़ो	कूड़ो	(मकान)
कल्हा	कालो	काल्लो	(मानसिक रूप से अक्षम)
खाडु	खाडु	खाडु	(मेंढा)
खांतड़	खांतड़ा	खाँतडु	(रजाई)
किम्योळि	किरमोळि/-ळो	किरमोळि/-लो	(चींटी)
लाटो	लाटो	लाटु/लाटो	(सीधा, जो चालाक नहीं हो)
ओडार	उड्यार, उडार	उड्यार	(गुफा)

जौनसारी	कुमाउँनी	गढ़वाली	हिंदी तदर्थी
पिटै	पिट्याँ, पिठाँ	पिटै	(तिलक)
फांचि	फांचि	फांचि	(गठरी)
पोर	पोर	पोर	(बीता वर्ष)
रूड़ (सूर्य की ताप)		रूड़	रूड़ (ग्रीष्म ऋतु)
सर्सु	सर्सु	सर्सु	(खटमल)
सयाणो	सैणो	सैणो	(समतल भूमि)
टोप्री	टुपरि	टुपरि	(टोकरी)
उकै	उकालि	उकाल	(चढ़ाई)

उपर्युक्त कुछ उदाहरणों से स्पष्ट है कि जौनसारी निश्चयतः हिमाचल की सिरमौरी की अपेक्षा गढ़वाली-कुमाउँनी के अधिक सन्निकट है।

संरचना और विन्यास

लिखित साहित्य के पूर्ण अभाव में जौनसारी की शब्द-संरचना और वाक्य-विन्यास विषयक विवेचन करना नितान्त कठिन है। केवल भाषा के श्रुत स्वरूप मात्र के आधार पर उसका रचनात्मक, ध्वनिमिक, प्रातिपदिक और रूपगत विश्लेषण अपूर्ण ही माना जाएगा। विकट और विषम भौगोलिक कारणों से आवागमन के साधनों में कमी और तज्जनित पारस्परिक संपर्क के अभाव में सभी उत्तराखंडी बोलियों में विभेद मिलता है। जौनसार के जनजातीय अंचल में मुख्यतः तीन बोलियाँ व्यवहृत होती हैं - 1. जौनसारी 2. बाबरी और 3. कंडवाणी। शब्द, उच्चारण और लयात्मकता की दृष्टि से इनमें भी वैभिन्न्य है। हिन्दी के 'यहाँ आ' के लिए जौनसारी में 'उंडा आ', बाबरी में 'औरू आस' और कंडवाणी में 'एतके आ' कहेंगे। 'आप कहाँ जा रहे हैं' के लिए जौनसारी में 'तू कोकी जाए'? कंडवाणी में 'तू के थे लागा डेई'? तो बाबरी में 'तू कोई लागा नसी?' बोला जाएगा। क्रिया-विशेषण और घातु-रूपों में भी विविधता है। 'तू', 'तुम' तथा 'आप' के लिए के एकाक्षर 'तू' है। 'मैं' के लिए 'आ, ऊँ' और 'तुम' के लिए 'ताऊँ' शब्द हैं। कहीं-कहीं सर्वनामों और विशेषणों में फर्क हैं। गढ़वाली और कुमाउँनी में आदरसूचकता के लिए 'तुम' कहा जाता है। आप शब्द का प्रयोग अब होने लगा है। जौनसारी में भी एकाक्षर, द्वाक्षर और त्रिअक्षरी शब्दों का आधिक्य है। सानुनासिकता का प्रबल प्रभाव अधिकांशतः

उत्तराखंड की लोक भाषाओं में जौनसारी की अवस्थिति

इसमें भी लक्षित हैं।

जौनसारी में वाक्य-विन्यास और वैयाकरणिक प्रयोग, गढ़वाली और कुमाउँनी की ही भाँति हिन्दी - प्रभावित मिलता है। वाक्य का पूर्वांश उद्देश्य और उत्तरांश विधेय है। सर्वनाम और विशेषणों की अपेक्षा 'सुप' (संज्ञा) और 'तिङ्' (क्रिया) शब्दों की अधिकता है। हिमाचल सिरमौर से सटे देवधार क्षेत्र में व्यवहृत बोलियों पर सिरमौरी का कुछ प्रभाव झलकता है। लाखामंडल और धौरा-दाड़ भी गाड़ के निवासियों की बोली गढ़वाल मंडल की जौनपुरी और रवाँल्टी बोलियों के अधिक निकट हैं। सीमावर्ती क्षेत्रों में यह प्रवृत्ति प्रत्येक भाषा में दृष्टिगत होती है, परन्तु निस्संदेह जौनसारी की अधिकांश ध्वनियाँ, धातु-मूल, पारिवारिक शब्दावली, संख्यावाचक तथा कृषि और पशुपालन से संबंधित शब्द गढ़वाली और कुमाउँनी से मिलते-जुलते हैं।

वर्तमान और भविष्य

जौनसारी भाषा में लिपि बद्ध साहित्य, विशेषतः गद्य साहित्य की अनुपलब्धता और साहित्य-सेवियों की इस दिशा में अरुचि के कारण वर्तमान में इसका वांछित प्रचार, प्रसार और विकास नहीं हो रहा है, न ही एतदर्थ किसी गंभीर प्रयास के संकेत मिल रहे हैं। यहाँ की बोलियों का कोई आधारीक सर्वेक्षण भी अभी तक कहीं प्रकाश में नहीं आया। यदा-कदा राजनीतिक प्रभाव के कारण जौनसारी के अस्तित्व को खतरे में होने के स्वर सुनाई देते हैं। यदि स्तरीय साहित्य का यही अकाल रहा तो उत्तराखंड की कुछ अन्य जनजातियों की बोलियों, यथा- तोलछा, बंगाणी, मारछा, ज्याड़ा, भोटिया, रड, बुक्सा, थारू आदि की भाँति ही जौनसारी का नाम भी विलुप्ति की ओर अग्रसर भाषाओं के साथ जुड़ जाए। यूनेस्को द्वारा प्रकाशित 'एटलस' में परिगणित ह्यसोन्मुख 196 भाषाओं में उत्तराखंड की पाँच बोलियाँ - बंगाणी, तोलछा, दरमियाँ, बियाँसी और राजी सम्मिलित हो चुकी हैं।

अतः जौनसार अंचल के भाषा-प्रेमी प्रबुद्ध जनों से यही अपेक्षा की जाती है कि यहाँ के निष्ठावान लेखकों को स्तरीय साहित्य-सृजन के लिए उत्प्रेरित और प्रोत्साहित किया जाय, तभी जौनसारी का अस्तित्व सुरक्षित रह पाएगा।



संदर्भ ग्रंथ :

1. ऋग्वेद, मंडल 10
2. स्कन्दपुराण, केदार खंड
3. महाभारत, जनपर्व, हिडंब पर्व
4. पाणिनि: अष्टाध्यायी
5. जॉर्ज ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया, जिल्द 9, खंड 4
6. ई.टी. एटकिंसन: देहरादून गजेटियर
7. राहुल सांकृत्यायन : हिमालय परिचय
8. श्यामचन्द नेगी : गढ़वाली
9. डॉ. हरिदत्त भट्ट 'शैलेश' : गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य
10. रतन सिंह जौनसारी :
 - (1.) जौनसार बावर एक सांस्कृतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन
 - (2.) जौनसारी लोकगीत
 - (3.) जाग बावर जौनसार
11. प्रो. डी.डी. शर्मा : लिंग्विस्टिक हिस्ट्री ऑफ़ उत्तराखण्ड
12. डॉ. शिव प्रसाद डबराल : उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक भूगोल
13. मेजर जे.पी. राणा : जौनसार बावर ग्रंथावली (1950 से आज तक)
14. डॉ. उमाशंकर सतीश :
 - (अ) जौनसार बावर की लोक कथाएँ
 - (ब) फोनोलॉजी एंड मॉर्फोलॉजी ऑफ़ जौनसारी,
 - (ज) जौनसारी डिक्शनरी एंड टेक्स्ट्स
15. हिमओज पत्रिका : वर्ष 2, अंक 2

कुमाउँनी और गढ़वाली भाषाएँ : साम्य और वैषम्य

समान पृष्ठभूमि :

प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से उत्तराखण्ड पार्वत्य राज्य में दो प्रमुख मंडल हैं - गढ़वाल और कुमाऊँ। इनमें क्रमशः गढ़वाली और कुमाउँनी भाषा व्यवहृत होती है, जिनको ग्रियर्सन, गुणानन्द जुयाल, गोविन्द चातक, डी.डी. शर्मा आदि शीर्ष भाषाविदों ने 'सेन्ट्रल' या 'मध्य पहाड़ी' नाम से अभिहित किया है। इन दोनों भाषाओं का उद्भव और विकास समान भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और श्रमशील परिस्थितियों में हुआ। यहाँ के निवासियों के नृवंशीय तत्त्व, शारीरिक बनावट, जातिगत विभेद, आकृतियाँ, आचार-विचार, स्वभाव, मनोवृत्ति, चेष्टाएँ, प्रकृति, जीवन-दर्शन, संवेदनाएँ, आस्था, विश्वास, जीवन-शैली, मान्यताएँ, परंपराएँ आदि लगभग एक ही धाराओं में प्रवाहित होती रही हैं। इनके लोकाचार और लोक-व्यवहार में आज भी साँझी संस्कृति की झलक मिलती है।

इस समस्त क्षेत्र के मूल निवासी नेग्रिटो-ऑस्ट्रोलाइड, आस्ट्रिक, तिब्बत-बर्मी या मंगोल परिवार के माने जाते हैं। डोम (डोम्बा), कोल, भिल्ल, मुंडा, तोलछा, ज्याड़ा, मारछ्या, शौका, राजी, भोटिया, हुणिया आदि यहाँ की आदिम जातियाँ हैं। प्रागैतिहासिक काल में यह भू-भाग समय-समय पर नाग, यक्ष, किन्नर, गंधर्व, सिद्ध, तंगण, कुणिन्द, किरात, खश, शक आदि अनेक अनार्य जातियों का अधिवास रहा। इनमें से कुणिन्द, किरात, शक और खश सर्वाधिक शक्तिशाली रहे। इन्हीं मूल आदिम तथा अनार्य जातियों द्वारा व्यवहृत बोलियों के शब्दों और वाक्य-विन्यास से गढ़वाली-कुमाउँनी का प्रारंभिक आधार बना।

कालान्तर में वैदिकी, संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश ने गढ़वाली-कुमाउँनी के शब्द-भंडार में वृद्धि की। मध्यकाल में अन्य प्रदेशों से संपर्क होने के पश्चात् इन दोनों में पंजाबी, पूर्वी राजस्थानी, ब्रज, अवधी,

मागधी, बंगाली आदि भाषाओं से शब्द गृहीत हुए। दोनों भाषाओं पर आंशिक रूप से पैशाची, दरद तथा मुख्यतः पूर्वी राजस्थानी और शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव माना जाता है। विदेशी शासकों के आने से दोनों भाषाओं में अरबी, फारसी, अंग्रेज़ी आदि के शब्द प्रविष्ट हुए। उन्नीसवीं शती के प्रारंभ से ही समस्त क्षेत्र में शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो जाने के फलस्वरूप हिन्दी ने गढ़वाली और कुमाउँनी भाषाओं की शब्दावली ही नहीं अपितु पद-संरचना, वाक्य-विन्यास और व्याकरण को इतनी अधिक मात्रा में प्रभावित किया कि कई भाषा-शास्त्री इन दोनों को हिन्दी की ही एक ही विभाषा मानने लगे।

गढ़वाली-कुमाउँनी पर किए गए भाषा वैज्ञानिक अध्ययन

गढ़वाली-कुमाउँनी का रूपगत समवेततः अध्ययन सर्वप्रथम व्याकरणविद् पादरी एस.एच. केलॉग ने 'ए ग्रामर ऑव् दि हिन्दी लैंग्वेज (सन् 1893) में हिमालयन डाइलेक्ट्स के अन्तर्गत किया। जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन के सुप्रसिद्ध भाषा-सर्वेक्षण (सन् 1894-1927) तथा इंडियन एंटीक्वेरी (सन् 1914) में प्रकाशित एक लेख में इनका प्रथम आधिकारिक विवरण है। डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, डॉ. हरदेव बाहरी, राहुल सांकृत्यायन आदि तथा गुणानन्द जुयाल के शोध प्रबंध 'मध्य पहाड़ी भाषा का अनुशीलन और उसका हिन्दी से संबंध' (सन् 1967), डॉ. गोविन्द चातक प्रणीत दो पुस्तकों - 'मध्य पहाड़ी की भाषिक परंपरा और हिन्दी' (सन् 2000) तथा 'मध्य हिमालयी भाषा' (सन् 2006) - में गढ़वाली और कुमाउँनी के विभिन्न भाषिक पक्षों पर महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है। इसी क्रम में प्रो. डी.डी. शर्मा के दो ग्रंथ - 'एँ स्टडी ऑव् लोन वडर्स इन सेंट्रल पहाड़ी' तथा 'लिंग्विस्टिक हिस्ट्री ऑव् उत्तराखण्ड' उल्लेखनीय और उपादेय ग्रंथ हैं।

केवल गढ़वाली भाषा पर काम करने वाले विद्वानों में डॉ. हरिदत्त भट्ट 'शैलेश', उमाशंकर सतीश, डॉ. ए.सी. चन्दोला आदि अंगुलिगण्य नाम हैं। इनके अधिकांश ग्रंथ भी एक पक्षीय या विवरणात्मक लगते हैं। सच तो यह है कि गढ़वाली भाषा के विभिन्न भाषा-वैज्ञानिक और भाषाशास्त्रीय अंगों पर स्तरीय विश्लेषण और विवेचन अभी भी शेष है। कुमाउँनी भाषा पर अपेक्षाकृत अधिक गंभीर, स्तरीय, व्यापक और वैज्ञानिक विवेचन उपलब्ध है। इनमें डॉ.

कुमाउँनी और गढ़वाली भाषाएँ : साम्य और वैषम्य

भवानीदत्त उप्रेती कृत 'पिठौरागढ़ संभाग की बोली और उसका साहित्य' तथा उसका एक खंड 'कुमाउँनी भाषा का अध्ययन' तथा आपटे और पटनायक का सन् 1967 में प्रकाशित 'ऐन ऑउटलाइन ऑव् कुमाउँनी ग्रामर', डॉ. रामसिंह नाई का 'कुर्माचलीय कृषि तथा औद्योगिक शब्दावली' तथा 1972 में डॉ. केशवदत्त रुवाली प्रणीत 'कुमाउँनी शब्दावली का व्युत्पत्तिपरक अध्ययन', प्रशंसनीय उपलब्धियाँ हैं।

मातृ बोलियाँ और उपबोलियाँ

गढ़वाली और कुमाउँनी भाषाओं की समानता और असमानताओं पर विमर्श करने से पूर्व यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ये दोनों भाषाएँ विभिन्न बोलियों के समुच्चय हैं। इनके भाषा-क्षेत्र उत्तुंग हिमाच्छादित पर्वत श्रृंगों तथा वेगवती नदी-नालों द्वारा विविध अगम्य दुर्गम क्षेत्रों और उपक्षेत्रों में विभाजित हैं। इस प्रदेश की विकट प्राकृतिक स्थिति और तज्जनित आवागमन के साधनों की अत्यल्पता बोली-विभेद के मुख्य कारण रहे। स्थानगत वैभिन्न्य के अतिरिक्त बोली-वैविध्य का अन्य कारण जातीय विविधता भी है। एक ही शब्द के ध्वनि, उच्चारण तथा रूप-जनित यह वैविध्य इन भाषाओं के अन्तर्गत आने वाली बोलियों के प्रयोग में भी दिखाई देते हैं।

कुमाउँनी और गढ़वाली बोलियों के सर्वेक्षणात्मक पक्ष पर पं. गंगादत्त उप्रेती कृत 'हिल डाइलेक्ट्स ऑव् द कुमाऊँ डिवीजन' (सन् 1900) एक उल्लेखनीय आधारिक ग्रंथ है। कुमाउँनी बोलियों के बारे में टीकाराम जोशी कृत एक आलेख सन् 1911 में बंगाल एशियाटिक जर्नल में प्रकाशित हुआ था। जॉर्ज ग्रियर्सन के अपने भाषा सर्वेक्षण में कुमाउँ की 13 और ब्रिटिश गढ़वाल की 8 बोलियों तथा टिहरियाली का सोदाहरण विवरण है। तत्पश्चात् कुमाउँनी बोलियों पर कुछ विद्वानों द्वारा समय-समय पर स्वतंत्र रूप से भी विवेचन होता रहा। डॉ. शेर सिंह बिष्ट ने कुमाउँनी भाषा को रूपिमिक दृष्टि से पूर्वी और पश्चिमी दो वर्गों में विभाजित किया। पूर्वी कुमाउँनी में कुमय्याँ, सोर्याली, सीराली, अस्कोटी तथा पश्चिमी कुमाउँनी में *खसपर्जिया*, *चौगर्खिया*, *गंगोली*, *दानपुरिया*, *पछाई* और *रौचौबीसी* - इस प्रकार कुल दस बोलियाँ परिगणित हैं।

गढ़वाल मंडल की बोलियों के कुछ अन्य भेदोपभेद और पुनर्वर्गीकरण

ग्रियर्सन के पश्चात् भी किए गए परन्तु आधिकारिक रूप से अभी भी ग्रियर्सन द्वारा नामित अग्रलिखित नौ बोलियों का ही अनुकरण किया जा रहा है—श्रीनगरी, सलाणी, नागपुरिया, दसौल्या, राठी, लोब्या, मझकुमैय्या, बधाणी और टिहरियाली। लोब्या पर उन्होंने आंशिक टिप्पणी की है। कालान्तर में रमोल्या, बाड़ाहटी, रवाँल्टी, बंगाणी, चोंदकोटी, बडियारगढ़ी आदि जन्य भेदिक नाम भी गिनाए गए। गढ़वाली की बोलियों को पुनर्वर्गीकृत करते हुए तीन से लेकर छह कोटियों में रखा गया। कुल मिलाकर गढ़वाली में 15-20 बोलियाँ और उपबोलियाँ गिनाई जाती हैं। ध्यातव्य है कि गढ़वाली में कुमाउँनी की अपेक्षा अधिक वैभाषिक विकल्पन (*dialectal variations*) हैं। कुमाउँ मंडल की जोहारी तथा गढ़वाल क्षेत्र से लगी जौनसारी बोलियों की स्थिति अभी भी असमंजस में है।

ग्रियर्सन की मान्यता थी कि गढ़वाली और कुमाउँनी एक दूसरे से घनिष्ठता से जुड़े हैं (भाषा सर्वेक्षण जिल्द IX, खंड IV, पृ. 279)। दोनों भाषाओं की सीमान्त क्षेत्र की कई बोलियों में भाषायी एकरूपता है। उदाहरणार्थ गढ़वाल के पूर्वी भाग की बधाणी, दसौल्या, राठी और पूर्वी सलाणी के पद, रूप और शैली की दृष्टि से कुमाउँनी की दक्षिण-पश्चिमी बोलियों – विशेषतः रौचौबीसी-फल्दाकोटया, पछाई से भिन्न नहीं हैं।

शब्द भंडार

गढ़वाली और कुमाउँनी शब्दावली के आदिप्रोत एक ही हैं। इस क्षेत्र में अधिवास करने वाली आस्ट्रिक, तिब्बत-मंगोल तथा कालान्तर में बसने वाले भूमध्यसागरीय द्रविड़, किरात, खश आदि अनार्य जनजातियों के कई शब्द दोनों भाषाओं में समान रूप से मिलते हैं। आर्यों की बस्ती और ऋषि-मुनियों के आश्रमों के साथ-साथ वैदिक और संस्कृत शब्द यहाँ सामान्य जन की जुबान पर रच-बस गए। इनके असंख्य तद्भव और अपभ्रंश शब्द आज भी गढ़वाली-कुमाउँनी में समान रूप से मिलते हैं। अपभ्रंश की उकार बहुलता की प्रवृत्ति ने गढ़वाली को बहुशः और कुमाउँनी को अंशतः प्रभावित किया। मध्यकाल से विदेशियों से संपर्क होने के फलस्वरूप अनेक विदेशी शब्द स्थानीय उच्चारणों में ढलते हुए इन दोनों भाषाओं में प्रविष्ट हुए। उन्नीसवीं शती से समस्त उत्तराखण्ड में शिक्षा का माध्यम हिन्दी होने से असंख्य हिन्दी

कुमाऊँनी और गढ़वाली भाषाएँ : साम्य और वैषम्य

शब्द दोनों भाषाओं में घुल-मिल गए। समान स्रोत और आधार के फलस्वरूप दोनों के अधिकांश शब्द वही या मिलते-जुलते हैं। उनमें पर्याप्त साम्य है परन्तु स्थानीय उच्चारण-वैभिन्य के कारण वैषम्य नजर आता है। ध्वन्यात्मक, अनुरणनात्मक, अनुकरणमूलक, सूक्ष्म-अर्थभेदक, स्वाद, स्पर्श, गति और गंध-द्योतक कई विशिष्ट शब्द दोनों भाषाओं की अमूल्य निधि है। ऐसे कुछ शब्द उदाहरणार्थ हैं - गढ़वाली=कुमाऊँनी : *प्याँ-प्याँ* (बच्चे का रोना) = *च्यां-च्यां*; *च्युँचाट* (पक्षियों का लगातार जोर से चहहकना), *चिचाट*; *सिंस्याट* (नदी के बहने का कलकल निनाद)=*सुसाट*; *तड़तड़* (पानी के ऊँचाई से गिरने की आवाज)=*तड़तड़* आदि। इसी प्रकार गाय, भैस के रंभाने के लिए *अड़ाट*, शारीरिक आघात के लिए *भताक*, *ठसाक*, *घचाक* आदि दोनों भाषाओं में, अत्यल्प औच्चारणिक अन्तर के साथ, समान रूप से पाए जाते हैं। कुछ अन्य ध्वन्यात्मक शब्द, जैसे, *खणमण*, *गमगम*, *छणमण*, *दणमण*, *तड़तड़*, *कड़कड़ाट*, *फटाफट*, *टकटक*, *झड़झड़ाट*, *गटागट*, *हडबड़ाट* आदि अनेक शब्द गढ़वाली और कुमाऊँनी की साँझी सम्पत्ति हैं।

कृषि कार्य से संबद्ध उपकरण, उपस्कर, खेतों के प्रकार, पैदावार, खाद्यान्न, साग-सब्जी, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, फल-फूल, जड़ी-बूटियाँ, शरीर के अंग, वस्त्र, खाने-पीने के ढंग, मानवीय रिश्ते-नाते, संस्कार, धर्म, लोक विश्वास, अनुष्ठान, पूजापाठ, विभिन्न अनुभूतियों, मनोभावों, आवेगों और सहज प्रवृत्तियों को व्यक्त करने वाले तथा प्रकृति और मौसम की विभिन्न स्थितियों और रंगीनियत को दर्शाने वाले कई देशज शब्द दोनों भाषाओं में समान रूप से मिलते हैं, जैसे- *बिद्दों* (वर्षा के बाद का मौसम), *हयूँद* (शीतकाल), *रूड़ि* (ग्रीष्म), *चौमास* (बरसात के चार महीने), *बसगाल* (वर्षाकाल) आदि।

आलोच्य दोनों भाषाओं में साम्य केवल संज्ञा शब्दों तक ही सीमित नहीं है। व्याकरण की अन्य कोटियों में भी यही वृत्ति लक्षित है। अतिप्रचलित सार्वनामिक शब्द, जैसे-मैं, तुम, यह, वह, मेरा, तेरा, उसका आदि मूल शब्द दोनों भाषाओं में कुछ स्थान भेद के साथ समान रूप से प्रयुक्त होते हैं। अधिकांश विशेषणों के लिए भी वही शब्द हैं, यथा - गुनगुना, बुरा, नीच, उलटा के लिए क्रमशः *निबतो*, *नाखुरू*, *हूँचों*, *उताणों* आदि समान शब्द हैं। उल्लेख्य है कि सर्वनाम और विशेषणों के संरचक पूर्व तथा परप्रत्यय भी एक से हैं। कई

मुहावरे और लोकोक्तियों में भी समानता हैं, यथा- *भाग फुटण* (दुर्दिन), *ग्युँ दगाडि घूण भी पिसणे गेन* (दोषी के साथ निर्दोष का भी प्रभावित होना) आदि।

यहाँ कई अव्ययों में भी एकरूपता दिखाई देती है। दिशा बोधक क्रियाविशेषणों में पर्याप्त साम्य है। गढ़वाल और कुमाउँ प्रधानतः पर्वतीय प्रदेश हैं, जिसमें समतल अंश अत्यल्प है। अतः दिशा-बोधन पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण की अपेक्षा ऊपर या नीचे इंगित करने वाले क्रिया वैशेषणिक शब्दों द्वारा किया जाता है जिनके द्योतनार्थ कई शब्द मिलते हैं। ध्वन्यात्मक क्रियाविशेषण, यथा- *ध्यच्च, पप्य, फप्य, सट्ट, चस्स, फटाक, धमाक, सुर्कि, टप्य, भचाक* आदि शब्द दोनों भाषाओं की साँझी निधि हैं। दोनों भाषाओं में कुछ ऐसे असंख्य विशिष्ट शब्द भी हैं जिनकी अभिव्यंजनात्मकता, भावप्रवणता, संकेतात्मकता और संप्रेषणीयता अप्रतिम है। उनके समतुल्य शब्द किसी अन्य भाषा में मिलना दुर्लभ है। क्रिया के अनुरूप अनुरणनात्मक शब्दों का भी दोनों में बाहुल्य है।

जैसे कि पूर्व में बताया जा चुका है विवेचनाधीन दोनों भाषाओं का शब्द-स्रोत एक ही रहा। भले ही उनमें शब्द कई द्वारों से प्रविष्ट हुए फिर भी दोनों में एक तिहाई से अधिक शब्द स्थानिक या देशज हैं, जिनमें रूपगत और अर्थगत साम्य है, जैसे- *अन्वार* (शक्ल), *आखर* (अक्षर), *किलम्वाड* (एक प्रकार की घास), *कल्यौ* (नाशता), *गोठ* (खाद के लिए जानवरों को खेत में बांधने का बाड़ा), *गिच्चु* (मुँह), *गैणा* (तारा), *घुघती* (फाख्ता), *जूंगा* (मूँछ), *गोर* (फालतू जानवर), *झुंगारो* (एक खादान्य), *डांडौ* (उँचा पहाड़), *धार* (पर्वत माला की ढलवाँ चोटी), *पुंगडो* (खेत) आदि।

आगत भाषाओं के कुछ शब्द भी गढ़वाली-कुमाउँनी में समान रूप से पाए जाते हैं। खस भाषा के ऐसे ही कुछ शब्द हैं - *लौड़ी* (किशोरी युवती), *गबरू* (हट्टा-कट्ट युवक), *खुट* (पैर), *बल्द* (बैल), *गाड़* (छोटी नदी), *बाट* (रास्ता), *नाखरों* (बुरा), *हिंडणों* (व्यर्थ घूमना) आदि। इसी प्रकार राजस्थानी से आए कुछ शब्द हैं - *थोक* (कुल), *डार* (झुंड), *मुंदड़ी* (अंगूठी), *खाडू* (भेड़ा), *बोरो* (रास्ते या कुछ समय के लिए रखा गया खाद्यान्न) आदि। अंग्रेज़ी के कुछ शब्दों का दोनो भाषाओं में समान उच्चारण है, यथा- *इस्कूल, कंपोडर गिलास, टिमाटर, डाक्टर, डिप्टी, पल्टण, पतरौळ, बरांडि, रबड़, लिपटेन, लंबर, लैन, सलीपर, सिलेट* आदि।

कुमाउँनी और गढ़वाली भाषाएँ : साम्य और वैषम्य

समान वर्तनी परन्तु अर्थगत वैभिन्न्य

समीक्ष्य दोनों भाषाओं में कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनकी वर्तनी में रूपगत साम्य होते हुए भी उनमें अर्थगत वैभिन्न्य है, यथा -

शब्द	गढ़0 में अर्थ	कुमा0 में अर्थ
थोळ	बिना दाँत का	ओंठ
मैंस	पति	मनुष्य
नौनि	लडकी	मक्खन
खाळ	पर्वतों के बीच की समतल भूति	पोखर
बूट	छोटी झाड़ी	पेड़
च्याला	शिष्य	पुत्र
बोडि	ताई	पुत्रवधू
पूठि	नितम्ब	पीठ
सैणि	पत्नी	महिला

उसी अभिप्राय या अर्थ के लिए दोनों भाषाओं में भिन्न-भिन्न शब्द भी प्रचुरता से मिलते हैं, जैसे -

हिन्दी	गढ़0	कुमा0
माँ	ब्बे	इजा
हृदय	जिकुड़	क्वठ
जितना	जत्ता	जितण
मिर्च	मर्च	खुश्याणि

ध्यातव्य है कि गढ़वाली-कुमाउँनी में दो या तीन अक्षरों वाले पद ही भाषाओं के शाब्दिक गठन के मुख्य आधार हैं। सामान्यतः चार या चार से अधिक अक्षरों वाले शब्द कम मिलते हैं। शब्दावली विषयक चर्चा करते समय हम यह भी न भूलें कि गढ़वाली-कुमाउँनी में गहन वैचारिक और बौद्धिक चिन्तन, साहित्य की समीक्षा, गद्यात्मक विवेचन, खेल, मनोरंजन, ज्ञान-विज्ञान, धर्म, दर्शन, राजनीति आदि कई विषयों के लिए अपने शब्दों के अभाव में सामान्यतः कुछ हिन्दी शब्दों का सहारा लेना पड़ता है। अत्याधुनिक तकनीकी अभिव्यक्तियों से परिप्रेक्ष्य में भी दोनों भाषाएँ दुर्बल हैं।

क्रियाएँ :

विवेच्य दोनों भाषाओं की अधिकांश क्रियाएँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से आई हैं। संज्ञा शब्दों की भाँति दोनों भाषाओं में मूल धातुएँ रूप-गठन के अनुसार एकाक्षरात्मक या द्वयक्षरात्मक हैं, यथा- *खा, हिट, चल, गण, पढ़, खण* आदि। कुमाउँनी क्रियाएँ अकारान्त परन्तु गढ़वाली क्रियाएँ अकारान्त के अतिरिक्त उकारान्त, ऊकारान्त या ओकारान्त रूप में भी व्यवहृत होती हैं। उ, ऊ और ओ सजातीय होने के कारण परस्पर परिवर्तनीय हैं। पूर्वी कुमाउँनी की सोर्याली और अस्कोटी बोलियों की क्रियाओं में भी अंत्य उकार/ओकार की प्रवृत्ति है जो सातत्यबोधक काल और निरन्तरता का बोध कराती है और जिनका अर्थ 'रहा है' में निष्पन्न होता है। गढ़वाली-कुमाउँनी में अंत्य णु, णू, णो और कुछ अन्य विकारों के अतिरिक्त अधिकांश देशज धातुएँ लगभग समान हैं, जैसे - *लौण* (फसल काटना), *बुजण* (छेद या आँख बन्द करना), *घैटण* (गाढ़ना, खूँटे गाढ़ना), *ऐड़ाण* (पशुओं का जोर से रंभना), *बिदकण* (भड़कना), *हेरण* (देखना) आदि।

कुमाउँनी और गढ़वाली दोनों भाषाओं में वर्तमान और भूतकाल के लिए सहायक क्रिया रूप में स्थिति वाचक सत्तार्थक 'छ' (है) का अति महत्त्व है। परन्तु मूल धातु में स्वरों के योग से निर्मित कृदन्तीय रूप दोनों में भिन्न-भिन्न हैं। गढ़वाली में अघोष महाप्राण छ के स्थान पर अघोष अल्पप्राण च भी प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार कुमाउँनी में इसका एक रूप न भी है। छ का एक वचन, वर्तमानकालिक उत्तम पुरुष प्रयोग हैं- गढ़वाली= 'मिजाणू छौं: कुमाउँनी= 'मि जान छूँ' (मैं जाता हूँ)। इसी प्रकार 'तुम्हारा नाम क्या है' के लिए गढ़वाली में 'तेरो नौं क्या छ/च' तथा कुमाउँनी में 'त्यर नौं कै छु' होते हैं।

भविष्यतकाल में छ के स्थान पर ल का प्रयोग दोनों भाषाओं में होता है, यथा - गढ़वाली में मि जौलू, तु जैलू/जैली, वु/वा जालो/जालि तथा कुमाउँनी में मि जूँलो, तु जालै, वु जालो है। स्त्रीलिंग में ओकारान्त के स्थान पर इ/इकारान्त होता है। संयुक्त क्रिया बनाने के लिए गढ़वाली में मूल क्रिया-पदों के साथ *सकणो, अलणों, बैठणों, लगणों, पड़णों* तथा कुमाउँनी में *बेर, हुण, चाण, देणो, रखणो, हलणों* जोड़े जाते हैं।

गढ़वाली की कुछ बोलियों में वर्तमान काल में अश्रव्य सा थ, ह या अ तथा भूतकाल में थौ रूप भी मिलते हैं। दोनों भाषाओं की कुछ बोलियों, यथा

कुमाउँनी और गढ़वाली भाषाएँ : साम्य और वैषम्य

गढ़वाली की जौनपुरी और रवाँल्टी तथा कुमाउँनी में स्थिति वाचक सहायक क्रिया छ के निषेधात्मक रूप न्हँ, न्हँ और न्हाति, (नहीं हैं) तथा र-न्हाति (वह नहीं है) भी मिलते हैं। क्रियाओं के प्रेरणार्थक रूप बनाने के लिए अन्तिम वर्ण के अ को हटाकर गढ़वाली में आ, वा अथवा अवा और कुमाउँनी में ऊ या अऊँ जोड़ा जाता है, यथा - पढ़ण, ल्यखण, ख्यलण क्रियाएँ गढ़वाली में क्रमशः पढ़ाण/पढ़वाण, लिखाण, लिखवाण, खिलाण/खिलवाण तथा कुमाउँनी में पढ़ूँ, लिखूँ, खेलूँ हो जाता है।

गढ़वाली-कुमाउँनी में कृदन्तों का बहुत महत्त्व है। कृदन्तीय रूपों में दोनों भाषाओं में समानता और विषमता मिलती है। वर्तमान कालिक कृदन्त बनाने के लिए गढ़वाली धातु रूपों में दु, न्दो या न्द लगता है, यथा- चलदू, मारदो, जान्दो, खान्दु। कुमाउँनी में धातु पर नो, न अथवा आँ लगाकर बनाया जाता है, जैसे हिटन-हिटाँ, खान-खाँ, मरन-मराँ। इसी क्रम में 'न' प्रययान्त देखिए - 'खान किलै न्हाति' (खाता क्यों नहीं)। निरंतरता सूचित करने के लिए दोनों भाषाओं के कृदन्त रूप की पुनरुक्ति होती है- यथा हिन्दी में 'लिखते-लिखते मैं सो गया' के लिए गढ़वाली में 'मि ल्यखद ल्यखद से ग्यूँ' और कुमाउँनी में 'लेखनै लेखनै से गों' में पर्याप्त साम्य है। भूतकालिक कृदन्त के लिए गढ़वाली में धातु पर इयो, न्यो रूप बनता है, जैसे- दिन्यो, लिन्यो, पिन्यो। कुमाउँनी में 'यो' या 'न्यो' रूप मिलता है- भयो, गयो, पिन्यो। पूर्वकालिक कृदन्त के लिए गढ़वाली में क (खैक-खाकर, जैक-जाकर) तथा कुमाउँनी में बेर (देखि बेर-देख कर, खैबेर-खाकर) रूप बनते हैं।

कर्मवाच्य के रूप में गढ़वाली में 'ए' प्रत्यय का प्रयोग होता है परन्तु कुमाउँनी में ए के स्थान पर ई हो जाता है, जैसे- गढ़वाली के 'त्वै से नि करेन्दु' (तुमसे नहीं किया जाता) कुमाउँनी में होता है- 'त्यार कैल नि करीन'। समानता - असमानताओं पर विवेचन करते समय यह भी जानना आवश्यक है कि कहीं-कहीं एक ही क्रिया-व्यापार के लिए दोनों भाषाओं में अलग-अलग शब्द भी हैं, जैसे- 'बोलना' क्रिया के लिए गढ़वाल में बोलणों तो कुमाउँनी में कूणो है। 'खड़ा होना' के लिए गढ़वाली में खड़ो होणों तो कुमाउँनी में ठाडो होणो है। 'चला गया' के लिए गढ़वाली में चलिगये है तो कुमाउँनी में 'न्है गयो है।

यहाँ विशेष रूप से उल्लेख्य है कि अधिकांश क्रियाओं का दोनों भाषाओं में मूल धातु-रूप समान होते हुए भी वाच्य, काल (लकार), वचन,

उत्तराखण्ड की लोकभाषाएँ : स्वरूप और चुनौतियाँ

अर्थ, पुरुष, लिंग, वृत्ति, पक्ष आदि प्रकट करने के लिए विशेष प्रत्यय लगने से इनके कृदन्तीय रूपों में विकार और तदनुसार उच्चारण तथा रूपात्मक वैभिन्य दिखाई देता है। वस्तुतः क्रियाओं में विकार जनित अनेकरूपता ने दोनों भाषाओं में दृश्यमान पार्थक्य को बढ़ावा दिया। यह पृथकता भाषाओं की आन्तरिक बोलियों में भी दिखाई देती है जैसे 'पकाना' क्रिया के लिए कुमाउँनी की ही विभिन्न बोलियों में *पकौन, पकून, पकौण, पकूण, पकाण* आदि रूप हैं। इसी प्रकार गढ़वाली के अलग-अलग क्षेत्रों में वही क्रियाएँ अकारान्त, उकारान्त, ऊकारान्त तथा ओकारान्त रूपों में मिलती हैं। विकारजनित अनेकरूपता सर्वनाम, उपसर्ग, प्रत्ययों में अपेक्षाकृत कम और क्रियाओं, कारक विभक्तियों, संज्ञा और वैशेषणिक शब्दों में अधिक है।

ध्वनिगत विशिष्टताएँ और विविधताएँ : स्वर

विवेचनाधीन दोनों भाषाओं की लिपि देवनागरी है। अतः इस लिपि का प्रयोग करने वाली संस्कृत, हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि अन्य भाषाओं की भाँति कुमाउँनी-गढ़वाली का उच्चारण भी वर्णिक है। दोनों में संस्कृत-हिन्दी के प्रायः सभी मूल स्वर हैं, जिनका दोनों के औच्चारणिक स्वरूप में अति महत्वपूर्ण स्थान है। अधिकांश भूभाग शीतप्रधान है। फलतः कई क्षेत्रों में स्वर-तंत्रियों तथा ओठों के खुलने-बंद होने और उनके गोलाकार होने की मात्रा, आकार और स्वरूप के आधार पर स्वरों का, संवृत, विवृत, अर्द्ध-संवृत, अर्द्ध-विवृत, वर्तुल, दुर्बल, अति ह्रस्व, फुसफसाहट युक्त और अश्रव्य सा उच्चारण होता है। कुछ इलाकों में अ स्वर का उच्चारण बंगला आ या रोमन 0 की तरह भी किया जाता है। इस साम्य के अतिरिक्त दोनों भाषाओं के स्वरों में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ और विशिष्टताएँ भी हैं जो हिन्दी में नहीं दिखाई देती।

कुमाउँनी में स्वरों के उच्चारण की एक विशिष्टता उल्लेखनीय है। यहाँ आ, ए तथा ओ दीर्घ ध्वनियों के ह्रस्व उच्चारण भी स्वतंत्र स्वनिम के रूप में विद्यमान हैं। इन्हें 'ह्रस्वदीर्घ' कहा जाता है। देवनागरी में यह ध्वनि नहीं है जिससे कुमाउँनी में इसे लिखने में प्रायः कठिनाई होती थी। डॉ. गुणानन्द जुयाल ने इस ह्रस्वदीर्घ ध्वनि को व्यक्त करने के लिए सम्बद्ध स्वर की शिरोरेखा के ऊपर एक छोटी सी खड़ी पाई लगाई है, जब कि डॉ. त्रिलोचन पांडे ने इसके लिए प्रभावित स्वर के नीचे अर्द्धचन्द्र चिह्न का प्रयोग किया है।

कुमाउँनी और गढ़वाली भाषाएँ : साम्य और वैषम्य

वस्तुतः पिछले दो-तीन दशक पूर्व तक इनके द्योतन के लिए कोई निश्चित विधि नहीं थी।

इस ह्रस्वदीर्घ ध्वनि को इंगित करने की अनिश्चितता के समाधान का श्रेय डॉ. केशवदत्त रुवाली तथा डॉ. भवानीदत्त उप्रेती को जाना चाहिए जिन्होंने सर्वप्रथम कुमाउँनी वर्णमाला का लेखिमिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए इन ध्वनियों के ह्रस्वदीर्घ उच्चारण के द्योतनार्थ सम्बद्ध ध्वनि की खड़ी पाई के नीचे छोटी सी अधोरेखा लगाने का प्रावधान निर्धारित किया। इस अधोरेखा के लगाने से इन दो उच्चारणों और तदनुसार उनके अर्थों में आए अन्तर को भी स्पष्ट किया जा सकता है, यथा -

आग (अग्नि)	आग (ईर्ष्या, जलन)
कान (श्रवणेन्द्रियाँ)	कान (अंधा, काँटा)
नानी (माता की माँ)	नानि (छोटी, कनिष्ठ)
बात (वार्तालाप)	बात (बत्ती)
देळि (देहरी)	देळि (देगी)

गढ़वाली में भी अ और आ के बीच की एक विशिष्ट ध्वनि है जिसे अवग्रह (रोमन लिपि के ऽ) चिह्न द्वारा द्योतित किया जाता है। अ स्वर के विलम्बित उच्चारण, विश्रान्ति, ठहराव अथवा उच्चारकाल को अपेक्षाकृत अधिक बढ़ाने और दीर्घ स्वरों के अति दीर्घ (प्लुत अतिप्लुत) रूप को द्योतित करने के लिए इस चिह्न का प्रयोग होता है। कुमाउँनी में इसका प्रयोग विरल ही मिलता है। यह ध्वनि भोजपुरी के अतिरिक्त किसी भी अन्य आर्य भाषा में नहीं पाई जाती। संस्कृत व्याकरण में दीर्घ अ के रूप में यह चिह्न स्वीकृत है (उकालोऽज्जह्रस्व दीर्घप्लुत :- अष्टाध्यायी 1-2-27)। परन्तु व्यवहार में अ का दीर्घ रूप आ मान लिया गया। गढ़वाली में इस बहु प्रयुक्त ध्वनि का बहुत महत्त्व है जिसके प्रयोग से शब्दों के अर्थ में वैभिन्न्य आ जाता है, उदाहरणार्थ- बड़ (बड़ा, 'बड़ भैजि'-अग्रज), बऽड (बरगद का वृक्ष), बऽऽड़ (बछड़ा); कँण (तृण), कँण (कराहना); कोच (कोचना क्रिया का आदेशात्मक रूप), कोऽच (कौन है)। यदा-कदा गुणाधिक्य दर्शाने के लिए सर्वनाम या विशेषणों के आगे भी दीर्घ स्वरों का प्लुतीकरण इसी चिह्न द्वारा होता है, यथा - ईऽऽ गौड़िन खै उज्याड़ (केवल इसी गाय ने-किसी अन्य ने नहीं-खेत की फसल

चरी)। भलोऽ आदिम (बहुत ही नेक इंसान)। संबोधन, आवाहन, आश्चर्य आदि भावावेगात्मक शब्दों में भी इस चिह्न का प्रयोग होता है। उल्लेख्य है कि संस्कृत में प्लुत के लिए 'ओऽम' का दृष्टांत दिया गया है। इसमें ३ का उच्चारण श्वास के अनुसार जितने लम्बे समय तक खींचा जा सके-किया जाता है। परन्तु अवग्रह चिह्न ऽ के संदर्भ में पूर्णतः ऐसा नहीं है।

कुमाउँनी ह्रस्व स्वरों की ओर उन्मुख है। गढ़वाली में दीर्घ, प्लुत और ह्रस्व तीनों की वृत्ति है। यहाँ भी अन्त्य वर्ण ह्रस्वत्व की ओर उद्यत दिखाई देता है, जैसे- गढ़वळि, पौड़ि, दीदि, बाड़ि खुट्टु, सरकारि आदि। गढ़वाली में संयुक्तस्वर (डिपथाँगज) भी पाए जाते हैं। कुमाउँनी में इनका अभाव है। दो समीपवर्ती स्वरों के योग की प्रवृत्ति गढ़वाली में अधिक दिखाई देती है, जैसे- आ+ई= ऐ, यथा मिठाई>मिठै, खटाई>खटै। कुमाउँनी में अन्त्य स्वर आ का उच्चारण 'यो' में भी सुनाई देता है, - गया, हुआ, कहा शब्द क्रमशः ग्यो, भ्यो, क्यो उच्चरित होते हैं।

गढ़वाली और कुमाउँनी में हिन्दी की भाँति स्वरों में ऋ चिह्न विद्यमान है, परन्तु इसका लिखित प्रयोग कुछ सीमित तत्सम शब्दों यथा - ऋण, ऋतु, ऋषि आदि शब्दों तक ही सीमित है। बोलने या वाचन में इसका उच्चारण रि की भाँति होता है। अर्द्ध स्वर य तथा व दोनों भाषाओं में विकल्प रूप से अ, इ तथा ओ, उ में परिवर्तनीय है, यथा-यखम-इखम, यनै-इनै, यकादसि-एकादसि। एकारान्त शब्द कुछ बोलियों में य अथवा या में परिवर्तित मिलते हैं, जैसे मेरू-म्येरू-म्यारो-म्यर। ओ भी कहीं-कहीं वा हो जाता है, यथा-घोड़ा - घ्वाड़ा; मोटो - म्वाटो; कोदो-क्वादु; फोडा-फ्वाडा।

विवेच्य दोनों भाषाओं में अ-आ, इ-ई, उ-ऊ ह्रस्व और दीर्घ स्वर ध्वनियाँ परस्पर स्थानापन्न हो जाती हैं। अन्य पार्वत्य भाषाओं की भाँति इनमें सुर (पिच) तथा बल (स्ट्रेस) के विभिन्न धरातलों द्वारा उच्चारण में सुर-अंतर के कारण वैभिन्य लक्षित होता है। पद के आदि, मध्य और अंत्य स्तरों पर तान, बलाघात-स्वराघात, आरोह-अवरोह, ओष्ठीकरण (लेबियलाइजेशन), उदात्त-अनुदात्त, ह्रस्व, दीर्घ, ह्रस्वदीर्घ, प्लुत, अतिप्लुत, दो स्वरों बीच का ठहराव, विश्रान्ति या उच्चारकाल की अवधि में अन्तर के कारण उत्पन्न श्रव्य उच्चारण में विविधताएँ दोनों भाषाओं में वैषम्य के मूल जनक हैं। यह भी उल्लेख्य है कि ये ध्वनिमिक, स्वनिमिक और रूपगत भिन्नताएँ पद स्तर पर कम, और वाक्य स्तर पर अधिक हैं।

कुमाउँनी और गढ़वाली भाषाएँ : साम्य और वैषम्य

व्यंजन ध्वनियाँ

हिन्दी की सभी व्यंजन ध्वनियाँ दोनों विवेच्य भाषाओं में पाई जाती हैं। गढ़वाली में ण और ळ ध्वनि का अपेक्षाकृत प्राबल्य है। यहाँ पंचमाक्षरों में ङ और ज प्रयुक्त नहीं होते। इनका उच्चारण गँ, और यँ की तरह होता है। ध्यातव्य है कि प्राकृत में भी ङ और ज व्यंजन लुप्त हो चुके थे। कुमाउँनी में ङ और ण ध्वनि कम हैं। आकारान्त तथा न और म के उच्चारण में हिन्दी की अपेक्षा अधिक अनुनासिकता है। दन्ताग्र ल और उक्षिप्त परिवेष्टित ळ की स्वतंत्र सत्ता और स्थानापन्नता दोनों भाषाओं में हैं, जैसे-मोल (कीमत), मोळ-गोबर। ळ ध्वनि वैदिक साहित्य में है परन्तु हिन्दी में नहीं। कुमाउँनी में ल/ळ ध्वनि व में परिवर्तित हो जाती है, यथा-अकाळ=अकाव, हल=हव, बादल/बादव=बादळ, काळो=कावो। गंगोली बोली में यह वृत्ति अधिक है। सोर्याली और दनपुरिया में ल का र रूप भी मिलता है, जैसे - फजल=फजर, माला=मारा।

दोनों भाषाओं में न, म और ल के महाप्राण न्ह, म्ह और ल्ह रूप भी मिलते हैं। गढ़वाली में महाप्राणता की वृत्ति अधिक है। कुछ लेखकों ने ण और र्ह ध्वनियों को भी गढ़वाली व्यंजनों में सम्मिलित किया है। कुमाउँनी में कहीं-कहीं अ के स्थान पर ह ध्वनि का आगम हो जाता है, यथा-और (गढ़0)=हौर (कुमा0), देखियाले (गढ़0)=देखिहालों (कुमा0)। अर्द्धस्वर य का प्रयोग दोनों में ज की भाँति भी होता है, जैसे - यजमान=जजमान, यज्ञ=जग्य। इसी प्रकार व भी अधिकांशतः ब प्रयुक्त होता है, जैसे कवि=कबि, भगवान=भगवान, गोविन्द=गोबिन्द। ऊष्म ध्वनियों-श, ष, स के उच्चारण में वैभिन्न्य है। ष की परिणति तो दोनों भाषाओं में श या स में हो गई है। पंडिताई करने वाला ब्राह्मण वर्ग ष का उच्चारण ख में करता है। कुमाउँनी की अधिकांश बोलियों में दंत्य स का उच्चारण तालिव्य श में होता है। तदनुसार गढ़वाली के साब, दिसा, सुप्पो, सिंग कुमाउँनी में क्रमशः शाब, दिशा, शुप, शिंग हो गए हैं। गढ़वाली की कुछ बोलियों में भी स के स्थान पर कहीं-कहीं श का प्रयोग मिलता है। गढ़वाली की अपेक्षा कुमाउँनी में ह ध्वनि का प्रयोग उदारता से होता है। तदनुसार गढ़वाली के दुसरी, मैना, औरोकूँ जैसे शब्द कुमाउँनी में दुहरी, म्हैना, हौरनकणि हो जाते हैं। गढ़वाली में संयुक्त व्यंजन क्ष, त्र, ज्ञ क्रमशः क्स, त्र और ग्यँ रूप में उच्चरित होते हैं, यथा-राक्षस=राक्सस, रागस;

त्रिवेणी-तिरपळि, यज्ञ-जग्य।

विश्लेष्य दोनों भाषाओं में अनुनासिकता की प्रकृति है। आचार्य राजशेखर ने भी इन भाषा-भाषियों को 'सानुनासिक भाषिणः' बताया था। सभी स्वरों के सानुनासिक रूप दोनों में उच्चरित होते हैं, जैसे-अँध्यारों, अँग्वाळ, ओंट, खिचणुँ, चीणाँ, ढुंगो, पँसा, पँच, स्यूँण आदि। कुमाउँनी में विशेषतः आकारान्त द्विअक्षरी शब्दों में गढ़वाली की अपेक्षा अनुनासिकता की वृत्ति अधिक दिखाई देती है, जैसे- राँम, धाँन, साँफ, नाँम, काँन, खाँण, कथाँ, गाँत, साँत आदि। नाँक, नाँच जैसे दैनंदिनी शब्दों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। कभी-कभी तो निरनुनासिक स्वरों को भी सानुनासिक कर दिया जाता है जिससे अर्थ में व्यतिरेक आ जाता है, जैसे- चंद्रबिन्दु रहित निरनुनासिक चाल का अर्थ है गति, परन्तु सानुनासिक चाँल का अर्थ होता है चावल। कुमाउँनी की दनपुरिया बोली में अंत्य स्वर की अनुनासिकता स्पष्ट प्रकट होती है, यथा - मिलाँ, भेजाँ। स अथवा श के साथ यदि अनुस्वार हो तो गढ़वाली में वहाँ ग आ जाता है, यथा- संसार=संगसार, वंश=वंगश आदि। उसी अर्थ के द्योतक गढ़वाली शब्दों का कुमाउँनी अनुनासिक होने के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

हिन्दी	गढ़वाली	कुमाउँनी
(अच्छा)	अच्छे	आँछे
(शरीर)	गाति	गाँति
(दस्यु)	डाकु	डाँकु
(शेष)	बाकि	बाँकि
(विचार)	सोच	सोंच
(सात)	सात	सांत

नासिक्य व्यंजनों के पूर्व स्वरों पर दोनों भाषाओं में संपर्कज अनुनासिकता आ जाती है, जैसे गुँणी, नाँनी, परांण, पाँणी, काँणी, चाँण, नाँण आदि। कुमाउँनी क्रिया रूपों में भी अनुनासिक तत्त्व विद्यमान है जैसे रूद (रहता है), खाँन छ (खाता है), चाँनण छ (देखता है), के मै जूँ (क्या मैं जाऊँ)? यह वृत्ति उत्तम पुरुष एक वचन के रूप में भी दिखाई देती है- मैं ल्युँलों (मैं लाऊँगा)।

दोनों भाषाओं में अल्पप्राण/महाप्राण एवं अघोष/सघोष ध्वनियों में पारस्परिक स्थानापन्नता की प्रवृत्ति मिलती है। यह परिवर्तन अधिकांशतः

कुमाऊँनी और गढ़वाली भाषाएँ : साम्य और वैषम्य

पदमध्य और पदान्त में आता है। हिन्दी के अंत्य सघोष महाप्राण के स्थान पर दोनों भाषाओं में घोष अल्पप्राण की स्थानापन्नता के कुछ दृष्टांत हैं - दूध - दूद, बाघ-बाग, बाढ़-बाड़। हिन्दी के अघोष महाप्राण ध्वनियों के स्थान पर अघोष अल्पप्राण के उदाहरण हैं - सिखाना-सिकाण, हाथ-हात, साफसुथरा-सापसुतरों आदि। गढ़वाली की कई सघोष-अल्पप्राण स्पर्श ध्वनियाँ, कुमाऊँनी में महाप्राण हो जाती है, यथा- गढ़वाली-कुमाऊँनी बखरो (बकरा)= बाकरो; कुखुडो (मुर्गा)= कुकडो; लाखुडो (लकड़ी)= लाकड़ो आदि। अन्यत्र ल तथा र वर्णों में संयुक्त ह, यथा- गढ़वाली के ल्हास, ल्हासण, रहणों शब्द कुमाऊँनी में लाश, लसण, रण बन जाते हैं।

शब्द संरचना, पदक्रम और विन्यास :

विवेचनाधीन दोनों भाषाओं का वाक्य विधान, व्याकरण और शब्द-कोटियाँ सामान्यतः हिन्दी के ही अनुरूप हैं। दोनों में कारक चिह्नों के लिए परसर्गों का अधिक प्रयोग होता है। परन्तु इनमें अधिकांश परसर्ग स्थानीय भी हैं - कुछ एक से हैं तो अन्य स्वतंत्र; जैसे- कर्म कारक के लिए कुमाऊँनी में थें, हाति, हुणि। करण और अपादान में प्रयुक्त कुछ विभक्तियों में भी कुछ में भिन्नता है।

गढ़वाली में न/ल और कुमाऊँनी में ले परसर्ग का प्रयोग सकर्मक भूतकालिक कुदन्तों के कर्ताओं के साथ होता है, जैसे- गढ़वाली में तैन-तैल ब्वाल (उसने कहा), कुमाऊँनी में मैंले क्योछ (मैंने कहा)। अपादान कारक में बटे (से) को दोनों भाषाओं में समान रूप से प्रयोग में लाया जाता है। दोनों भाषाओं में कारक विभक्ति का मूल संज्ञा और सर्वनाम के साथ योग हो जाता है जैसे कर्ता कारक में गढ़वाली- भगतुल (भगतू ने), मिन (मैंने): और संप्रदान में कुमाऊँनी- ईजालिलि (माँ के लिए)। संज्ञा और विशेषणों का भी योग दिखता है, जैसे- इकत्या, दुहत्या, तिकोणों। उल्लेख्य है कि संबंध कारक में भेद्य शब्द के पुल्लिंग होने की स्थिति में विभक्ति का लोप होकर भेदक शब्द पर औ जुड़ जाता है, यथा-गढ़वाली बल्दौ सिंग (बैल का सींग), और कुमाऊँनी में में- राजौ चेलो (राजा का पुत्र)। कभी-कभी कुछ क्रिया विशेषणों पर भी यही नियम लगता है, जैसे गढ़वाली तु कखौ छे? (तुम कहाँ के हो?)। भेद्य शब्द यदि स्त्रीलिंग हो तो संबंध सूचक की विभक्ति लुप्त होकर भेदक शब्द पर जुड़

जाती है, जैसे- गढ़वाली में भगवानै किरपा (ईश्वर की मेहरबानी), कुमाउँनी में बुडियै बात (बुद्धिया की बात)।

गढ़वाली में आकारान्त भेद्य शब्दों की संबंध-सूचकता के लिए कभी कभी अवग्रह चिह्न ऽ का भी प्रयोग होता है, यथा- तिमलाऽ फूल, (तिमल के फूल), कमेडाऽ, आखर (कमेड़ा से लिखे अक्षर)। संबंध कारक में कुमाउँनी में गढ़वाली के का, की, को लगाने के बजाय रि, रो लगता है, यथा- वैकऽउनरो। दोनों भाषाओं के सर्वनामों में पर्याप्त साम्य है। गढ़वाली में तु का विकारी रूप त्वै तथा कुमाउँनी में त्वि हो जाता है। हिन्दी के 'वह' शब्द के लिए गढ़वाली में वु, वो/वा और कुमाउँनी में उ/ऊ हैं, जिनके विकारी रूप गढ़वाली में एक वचन में वे/वीं और बहुवचन में ऊँ हैं। कुमाउँनी में यही विकारी रूप वचनों के क्रम में वि और उन/उनन हैं। कारक विभक्तियों तथा अन्यत्र प्रयुक्त स्वतंत्र विभक्तियों का मूल शब्द में योग होने से दोनों भाषाओं में पर्याप्त वैषम्य दिखाई देता है।

विवेच्य दोनों भाषाओं की वाक्य संरचना में कुछ ऐसे तत्त्व भी समान रूप से आते हैं, जो वाक्य-विधान को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करते हैं। 'सुना है', 'कहते हैं', 'मन की उदासीनता' आदि कई भावों का द्योतक 'बल' ऐसा ही एक अधिप्रचलित योजक शब्द है। किसी को चुनौती, आशा, प्रश्न, संभावना आदि प्रकरणों में धँ या धौं प्रयुक्त होता है। कुमाउँनी में विशिष्ट प्रभाव वाले पै, प, ला, पत जैसे कई निपात शब्द हैं। गढ़वाली में - बुनि, बुँदै, त, पण, याँ, वाँ, दा, अँ, हँ, जि, नितर, पर आदि प्रमुख निपात हैं। ट, ड, ड़, ण ध्वनियुक्त प्रत्ययों, यथा - आट, आँण, बाँण, याँण का दोनों भाषाओं में प्रयोग होता है। गढ़वाली-कुमाउँनी में समान रूप से पाए जाने वाले कुछ अन्य प्रत्यय हैं - आई, आक, आल, आई, क, को आदि।

निष्कर्ष

गढ़वाली और कुमाउँनी भाषाओं की समान पृष्ठभूमि तथा जातीय, सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक आदि अनेक पक्षों में साम्य रहा है। दोनों का शब्द-स्रोत एक ही है। इनका विकासक्रम समान धाराओं में प्रवाहित हुआ, जिस पर शौरसेनी तथा पूर्वी राजस्थानी का प्रभाव प्रबल रहा। विदेशी और आधुनिक आर्य भाषाओं ने समान रूप में दोनों भाषाओं की

कुमाउँनी और गढ़वाली भाषाएँ : साम्य और वैषम्य

शब्दावली, क्रियारूप, विन्यास और व्याकरण सँवारने में अपना असर छोड़ा। दोनों भाषा-भाषी एक दूसरी की एक ही आँगन में खेलने वाली पर्वतीय पड़ोसिनें हैं। इन दोनों हिमालयी भाषाओं की कई समान प्रवृत्तियों व प्रकृति को दृष्टिगत रखते हुए ग्रियर्सन ने इनको सेववेततः 'मध्य पहाड़ी' नाम दिया जिसका प्रो.डी.डी. शर्मा, डॉ. गुणानन्द जुयाल और डॉ. गोविन्द चातक आदि कई अन्य विद्वानों ने भी अनुसरण किया। दोनों भाषाओं की शब्द-संपदा में नगण्य सा पार्थक्य है। दृश्यमान अंतर मुख्यतः उच्चारणजनित है।

समान पृष्ठभूमि, शब्दों के आदि-स्रोत, संबंध-सूत्र, अधिकांश शब्दावली, धातु, वाग्भाग आदि में साम्य, पद-रचना और वाक्य-विन्यास की एक सी प्रवृत्तियाँ, उसी प्रकार का व्याकरण आदि के बावजूद दोनों भाषाओं में कुछ विषमताओं की भी प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। स्वरों के उच्चारण में गति, बल, सुर, तान, लहजा आदि में आए किंचित अन्तर तथा कुछ व्यंजन वर्णों में आए व्यतिरेक से दोनों भाषाएँ भिन्न लगती हैं। कुछ कारक चिह्न और ध्वनियों, विशेषतः क्रियाओं में काल, पुरुष, लिंग, वचन आदि जनित विकार जैसे तत्त्व असमानता को बढ़ावा देते हैं। फलतः इन दोनों चचेरी-ममेरी बहनों के स्वभाव, वृत्ति, सौन्दर्य और स्वरूप में अन्तर आ गया है। तथापि, यदि गढ़वाली और कुमाउँनी बोलने वाले दो व्यक्ति अपनी-अपनी भाषाओं में ही वार्तालाप करें तो एक दूसरे को भले ही शब्दशः समझना आसान न लगे परन्तु मूलभाव की बोधगम्यता में कमी नहीं आती।

इन दोनों भाषाओं को एक ही वर्ग में रखना तो उचित है, परन्तु इन्हें एक ही भाषा मानना समीचीन नहीं लगता। इनमें बाह्य रूप से जितनी समानताएँ दीखती हैं, उतनी ही आन्तरिक असमानताएँ भी हैं। वृहद् ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक फलक पर दोनों भाषाओं के ऐक्य को उदारतापूर्वक उद्घाटित करना और उस पर बल देना वरेण्य होगा। संभवतया किसी काल में इनकी प्रमातामही एक ही रही हो। डॉ. महेश्वर प्रसाद जोशी की मान्यता है कि सोलहवीं शती तक गढ़वाल, कुमाउँ और नेपाल में एक ही राजभाषा का प्रयोग होता था। डॉ. यशोधर मठपाल इन्हें 'सहोदरा' और डॉ. गोविन्द चातक 'एक ही आँगन की दो बहनें' बताते हैं। उत्तराखंड राज्य बनने के पश्चात् समस्त प्रदेश के लिए 'एक भाषा' और 'एक लिपि' निर्माण के स्वर भी आजकल सुनने में आते हैं।

उत्तराखण्ड की लोकभाषाएँ : स्वरूप और चुनौतियाँ

क्षेत्रफल और जनसंख्या में अधिक होते हुए भी, गढ़वाली के भाषिक पक्ष तथा साहित्य सृजन में कुमाउँनी के समतुल्य व्यापकता, शोधकार्य, गहनता तथा परिनिष्ठता कम दिखाई देती है। आज इनकी पृथक सत्ता, अस्मिता और भिन्न अस्तित्व है। पारस्परिक संबंध-सूत्रता के साथ-साथ दोनों की अपनी अलग-अलग प्रवृत्तियाँ भी हैं। कहीं-कहीं रूपतात्त्विक असमानताओं की प्रखरता के कारण दोनों भाषाएँ स्वतंत्र धाराओं में प्रवाहित होती दृष्टिगत हो रही हैं।

सम्प्रति ये दोनों पड़ोसी भाषाएँ समान परिस्थितियों और चुनौतियों से जूझ रही हैं। इनके मानकीकरण का प्रश्न अभी भी अनिर्णीत है। कुमाउँनी ने अल्मोड़ा के आसपास व्यवहृत खसपरजिया को मानक रूप के पक्ष में बहुमत बना सा लिया है परन्तु गढ़वाली के सन्दर्भ में श्रीनगरी के प्रति यह अधिमान्यता अभी भी प्रतीक्षारत है। वर्तनी संबंधी अनेकरूपता का एक सर्वमान्य समाधान निकालना दोनों के लिए अभी भी चुनौतीपूर्ण है। बेहतर कामकाज, सुविधा, नौकरी, धनोपार्जन की संभावनाओं की तलाश में अधिसंख्य गढ़वाल व कुमाउँ वासी मैदानी इलाकों और महानगरों की ओर उन्मुख हैं। परन्तु जनसंख्या के पलायन के साथ-साथ दोनों भाषाओं की कुछ बोलियाँ विलुप्ति के कगार पर हैं। गढ़वाल मंडल की जौनसारी, बंगाणी, माच्छ्या, तोलचा, ज्याड़ा तथा कुमाउँ क्षेत्र की शौका, राजी, थारू, बोक्सा आदि जन-बोलियाँ ह्रासोन्मुखता की ओर अग्रसर हैं।

पिछले दशक से इन दोनों भाषाओं के प्रति समस्त प्रदेश में एक नई ठसक, ऊर्जा, आत्मीयता और जाग्रति का संचारण दिखाई दे रहा है। संविधान की आठवीं अनुसूची में समाविष्टि के लिए दोनों एक ही मंच पर दृढ़ प्रतिज्ञ होकर संघर्षरत हैं।



उत्तराखंड की सांस्कृतिक और भाषिक ह्रासोन्मुखता

भाषा और संस्कृति की अन्योन्याश्रितता

किसी भी देश या प्रदेश की पहचान उसकी अपनी संस्कृति और इस संस्कृति की प्रमुख संवाहिका तथा संरक्षिका – भाषा से ही होती है। इन दोनों का घनिष्ठ और अन्योन्याश्रित संबंध है। ये एक दूसरे के पूरक भी हैं और अनुपूरक भी। एक ओर भाषा हमारे भावों और विचारों को आभिव्यक्तिक चेतना प्रदान करती है तो दूसरी तरफ संस्कृति मानवीय गरिमा और सौष्ठव को। इस गरिमा और सौष्ठव की आत्मा और बौद्धिकता को गति देने, उसे पुरस्सरित तथा व्याख्यायित करने का गुरुभार भाषा के ऊपर ही होता है। संस्कृति अपने आप में गूँगी होती है। वह मूक और अदृश्य है। भाषा उसे आवरण पहनाती है। तथैव, संस्कृति और भाषा अन्योन्याश्रित हैं।

आर्य-संस्कृति का मूल स्रोत-उत्तराखंड

यद्यपि जलप्लावन, भीषण भूकंप, भयंकर जलप्रवाह, भूस्खलन आदि प्राकृतिक आपदाओं ने इस पार्वत्य प्रदेश के अधिकांश सांस्कृतिक वैभव के विवरणों को विनष्ट कर दिया है, तथापि इस क्षेत्र में किए गए कुछ वर्षों पूर्व के उत्खननों, पुरातत्त्वीय प्रमाणों से उपलब्ध गुहाचित्रों, महापाषाणकालीन अवशेषों, मृद-भांड एवं पाषाण तथा ताम्र उपकरणों, शवाधानों आदि से उत्तराखंड की प्राचीन सांस्कृतिक संपदा का आभास मिल जाता है। इस दिशा में डॉ. महेश्वर प्रसाद जोशी, प्रो. कान्ति प्रसाद नौटियाल, प्रो. डी.डी. शर्मा, आचार्य शिवप्रसाद डबराल, डॉ. यशवन्त सिंह कठोच, डॉ. शिवप्रसाद नैथानी प्रभृति अनेक पुरातत्त्वविज्ञों, इतिहासकारों तथा डॉ. शिवानन्द नौटियाल, भजन सिंह 'सिंह' आदि बहुशः विद्वानों ने श्लाघनीय खोजें की। इन सब की प्रायशः यही धारणा है कि उत्तराखंड का सांस्कृतिक अतीत अवश्यमेव अति गौरवशाली रहा होगा।

भारतीय वाङ्मय में इतिहास लिखने की परंपरा कभी नहीं रही। अतः ऑक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज से प्रकाशित तथा अंग्रेजों द्वारा पाश्चात्य साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से प्रतिपादित इतिहास की पुस्तकों के माध्यम से हार्नले के आधार पर भारतीय छात्रों को लगातार यही कुचेष्टापूर्ण घुट्टी पिलाई जाती रही कि आर्य यहाँ बाहर से आए, जिसका अन्धानुकरण अधिकांश स्वदेशी इतिहासकार भी अभी तक कर रहे हैं, जबकि भारतीय जनश्रुतियों में ऐसे कोई भी संकेत उपलब्ध नहीं हैं। निष्कर्षतः यही कहना उचित होगा कि आर्यों का मूल निवास-स्थान उत्तराखण्ड था और आर्य-संस्कृति यहीं से पल्लवित होकर पुष्पित और प्रसारित हुई। इस संदर्भ में ध्यातव्य है कि अनेक विद्वान् कुमाउँनी और गढ़वाली भाषाओं को वैदिकी और छान्दस से उद्भूत मानते हैं।

कुमाउँनी तथा गढ़वाली संस्कृति, भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग हैं। इस संस्कृति की अमूल्य निधि-वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, पुराण, रामायण प्रभृति अनेक कृतियों और आध्यात्मिक एवं धार्मिक ग्रंथों की रचना भारत-भूमि के इसी भाग में हुई। उत्तराखण्ड के कई प्रबुद्ध जनों ने प्रशासनिक और देश-रक्षा आदि के अतिरिक्त आत्मज्ञान, अध्यात्म व सांस्कृतिक सुदृढ़ता और सर्वधर्म के उन्नयनार्थ अपना योगदान दिया। ज्ञातव्य है कि जन-विश्वास के अनुसार वेदों, कुछ पुराणों, तथा कई अन्य धर्म और ज्योतिष ग्रंथों का प्रणयन उत्तराखण्ड की पवित्र भूमि में हुआ था। महाभारत सहित अनेक ग्रंथों के रचयिता महर्षि व्यास और गणेश की गुफाएँ, कई धर्म-स्थल केदारनाथ, बदरीनाथ, उत्तरकाशी, गोपेश्वर, गंगोत्री, यमुनोत्री, बागेश्वर, बैजनाथ, जागेश्वर, हरिद्वार, ऋषिकेश आदि अनेक स्थल पौराणिक आध्यात्मिक और धार्मिक मान्यताओं से जुड़े हैं। प्राणदायिनी गंगा और यमुना का यह मातृगृह है। अनेक तपोवनों और देवनों एवं कण्वाश्रम सदृश कई आश्रमों तथा तपस्थलियों से परिपूरित और पवित्र उत्तराखण्ड प्रदेश, प्राचीन काल से ही शिव, पार्वती, आदि देवी, देवताओं तथा वशिष्ठ, जन्हु, यमदग्नि, व्यास, परशुराम आदि ऋषि-मुनियों की कर्मभूमि और तपस्थली रहा। यहाँ के अनेक स्थानवाची नाम कई देवी-देवताओं और महान् आत्माओं के नामों पर आधारित हैं। इसीलिए उत्तराखण्ड को 'देव-भूमि' और इस क्षेत्र को 'देवतुल्य नराणाम्' से भी अभिहित किया जाता है।

उत्तराखंड की सांस्कृतिक और भाषिक हासोन्मुखता

गान-वादन, नाट्य-नृत्य आदि कलाओं का उद्भव स्थल

अनेक कलाविदों की स्थापना है कि भारत की नाट्य आदि कलाओं का उद्भव उत्तराखंड से ही प्रारंभ हुआ। इसी क्षेत्र में विचरण करने वाले नटराजों के राजा महाकाल शिव ने अपनी सहधर्मिणी, पर्वतपुत्री पार्वती के साथ नृत्योपरान्त अपने 'ढक्का' (डमरू) से 'नवपंच' (चौदह) ताल ठोंककर चौदह ध्वनियाँ प्रसूत की -

नृत्यावसाने नटराज राजो ननाद ढक्कां नवपंच वारम्

उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्धिमर्शो शिवसूत्र जालम्

इन चौदह ध्वनियों को शास्त्रकारों ने अनेकतः व्याख्यायित किया है। संस्कृत व्याकरण को सर्व प्रथम व ठोस सुव्यवस्थित रूप देने वाले और अष्टाध्यायी के रचयिता पाणिनि द्वारा प्रतिपादित चौदह सूत्र शिव के डमरू से निःसृत तालों पर ही आधारित बताए जाते हैं। सुप्रसिद्ध नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि की अवधारणा है कि 'उद्धत' नृत्य शैली में प्रयुक्त वाद्ययंत्रों (मृदंग, ढोलक, तबला आदि) की ध्वनियाँ (एओड्-एओच्, हरवट, खतछत आदि) मूल रूप से शिव के इसी डमरू से प्रथम बार निःसृत हुई थी। गढ़वाल के अमूल्य ग्रंथ 'ढोलसागर' में वर्णित विभिन्न तालों को भी महादेव के डमरू की ही उपज माना जाता है।

सर्वविदित है कि पूर्वतिहासिक कालीन उत्तराखंड में अन्य अनेक जातियों सहित किन्नर भी रहते थे। किन्नर प्रमुखतः गायन-वादन प्रिय थे। राहुल सांकृत्यायन का अभिमत है कि किन्नरों की भाषा कनौरी के 'सू' या 'स्यूँ' प्रत्ययान्त शब्द अभी तक भी उत्तराखंड के अनेक क्षेत्रों में अक्षुण्ण हैं, यथा- जौनसार का श्रेष्ठतम देव महासू तथा गढ़वाल के अनेक गाँव और पट्टियाँ 'सू' या 'स्यूँ' प्रत्ययान्त हैं, उदाहरणार्थः - धरासू, बगासू, डबरालस्यूँ, असवालस्यूँ, घुड़दौड़स्यूँ आदि-आदि। पुनः यदि वेदों की रचना हिमालयी उपत्यकाओं में हुई थी तो भारतीय संगीत का आदि स्रोत-सामवेद का सृजन भी संभवतः इसी भू-भाग में किया गया होगा।

उत्तराखंड की नाट्यशैली का प्रारंभ 'स्वांग' से माना जाता है। इन स्वांगों के मुख्य पात्र 'बद्धि' और 'बादणियाँ' होती थी। बीसवीं शती के मध्य तक बद्धि बाँस के ऊँचे-ऊँचे मोटे खंभों पर चढ़कर गाँववासियों के समूह को

अपने विस्मयकारी करतब दिखाया करते थे। इन स्वांगों का प्रमुख उद्देश्य ग्रामीण जनता का स्वस्थ मनोरंजन करना होता था। उल्लेख्य है कि बद्धी जाति अपने को किन्नरों का वंशज मानते हैं।

स्वस्थ मनोविनोद के प्रारंभिक साधनों में लोकगाथाओं, पौराणिक आस्थानों, देवी-देवताओं के सुकृत्यों आदि पर आधारित अनुकृतिमूलक और घटनाप्रधान छोटे-मोटे नाटकों का आयोजन होता था। इस परंपरा में रामलीला प्रमुख है। कुमाउँनी रामलीला और होली तो आज भी देश व विदेशों के कई भागों में कुछ परिवर्तन और परिष्करण के साथ जन-समुदाय के लिए विशेष आकर्षण हैं। तब महिला पात्रों का अभिनय पुरुषों द्वारा ही किया जाता था। विभिन्न अवसरों पर आयोजित उत्सव, प्रत्येक ऋतु में आयोजित त्योहार अनेक मेले, पर्व, सामूहिकता और पारस्परिक मेल-जोल के माध्यम ही आनंद और उत्साह भी प्रदान करते थे। दक्षिणी गढ़वाल के कुछ स्थलों पर आयोजित 'गिन्दी का मेला' तथा कुमाउँ में 'पूर्णागिरि का मेला' आज भी प्रसिद्धि में हैं। अनेक अवसरों पर गाए जाने वाले लोकगीतों का उत्तराखंड में विशेष महत्व है। 'हुड़के' की कर्णप्रिय थाप और मोछंग की रुनझुन पर वृत्ताकार एक दूसरे के कंधे या कमर पर हाथ रखे पर्वतीय नर-नारियों द्वारा उन्मुक्त झूमते हुए चाँचरी, झोड़ा, थड्या, झुमेलो, छोपती, लुस्का आदि नृत्य-गीतों के मनभावन आयोजन उत्तराखंड के कुछ भागों में अभी तक भी किए जाते हैं।

प्रमुख बौद्धिक और सांस्कृतिक केन्द्र

कुमाउँ में अल्मोड़ा और गढ़वाल में श्रीनगर तथा टिहरी, उत्तराखंड के सुविख्यात सांस्कृतिक केन्द्र रहे। सन् 1871 में राजा भीमसिंह के संरक्षणत्व में संभ्रान्त, शिक्षित तथा जागरूक परिवार के बेटों ने अल्मोड़ा में 'डिबेटिंग क्लब' की स्थापना की, जिसके अनुकरण पर सन् 1917 में टिहरी में भी एक क्लब स्थापित हुआ। इन क्लबों का मुख्य उद्देश्य क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं का समाधान तलाशना होता था। टिहरी क्षेत्र राजशाही के निरंकुश अधिकार में रहा। वहाँ के क्लब में नाट्य विषयक चर्चाएँ ही अधिक होती थी।

इसी कालावधि में 'अल्मोड़ा अखबार' प्रकाशित होने लगा, जो 47 वर्षों तक चला। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे हिन्दी का प्रथम समाचार पत्र

उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक और भाषिक हासोन्मुखता

मानते हैं। पर्वतीय अंचल के सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री पं. बुद्धिवल्लभ पंत इसके प्रथम संपादक थे। तत्पश्चात् इम्तियाज अली, जीवानन्द जोशी, मुंशी सदानंद सनवाल, विष्णुदत्त जोशी इसके संपादक रहे। पं. बद्रीदत्त पांडे सन् 1913 से सन् 1918 में अखबार के बंद होने तक इसके संपादक रहे।

गढ़वाल मंडल का आधा भाग सन् 1948 तक राजशाही के क्रूर अधिकार और शेष भाग लंबी अवधि तक प्रशासनिक रूप से कुमाउँ कमिश्नरी के अंतर्गत था। टिहरी राज्य ने शिक्षा के विकास और उन्नयन पर कोई ध्यान नहीं दिया। राजनीतिक चेतना की जागृति पर पूर्ण अंकुश रहा। परन्तु व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर सांस्कृतिक उत्थान अनवरत चलता रहा। पहले श्रीनगर और फिर टिहरी इसके केन्द्र बिन्दु थे। श्रीनगर में एक विशाल सांस्कृतिक संग्रहालय के उल्लेख मिलते हैं। परन्तु यह अलकनंदा नदी में आई बाढ़ का ग्रास बन गया बताते हैं। कुमाउँ में अल्मोड़ा समस्त शैक्षणिक, राजनीतिक सामाजिक और विशेषतः सांस्कृतिक कार्यकलापों का आधार स्थल था। शीर्षस्थ ब्रिटिश अधिकारी तथा महात्मा गांधी सहित राष्ट्रीय आंदोलनों के अनेक कर्णधार, उदयशंकर प्रभृति कई कलाप्रेमियों, साहित्यकारों, संगीत साधकों आदि ने यहाँ आकर अपने-अपने क्षेत्र में आराधना की। यही नहीं, कुमाउँ और गढ़वाल अध्यात्म का भी केन्द्र रहा।

कुमाउँ के सुप्रसिद्ध रंगमंचीय नाट्यकार मोहन उप्रेती को विस्मृत करना आसान न होगा। एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में जन्मे इस कलाविद् ने असीम सौन्दर्य की धनी सुसंस्कृत मुस्लिम अभिजात वर्गीय नईमा खान के साथ विवाह सूत्र में बँधकर दीर्घ अवधि तक नाट्य-संगीत को गति और शक्ति प्रदान की। अल्मोड़ा में 'यूनाइटेड आर्टिस्ट्स' संस्था का गठन (सन् 1950) हुआ, जिसमें उस समय के लगभग सभी उदीयमान कवि, गीतकार, लेखक, संगीतज्ञ, नाट्यकार आदि सम्मिलित होते थे। बाँकेलाल शाह, तारादत्त सती, इफ्तितहार हुसैन, बृजेन्द्र लाल शाह प्रभृति अनेक कलाकारों ने कई वर्षों तक अपनी कलाओं के प्रदर्शन से जनता को मनोरंजित किया। सन् 1953 में यह संस्था 'लोक कलाकार संघ' में परिणत हो गई। अब अल्मोड़ा का प्राचीन वैभव विलुप्त सा दिखाई देता है। परन्तु कुछ समय व सीमा तक अल्मोड़ा की तुलना प्राचीन ग्रीक सिटी से की जाती रही।

गढ़वाली थियेटर के उन्नयन की दिशा में राजेन्द्र धस्माना, मित्रानन्द

कुकरेती, सत्यप्रकाश हिन्दवान आदि ने दिल्ली में पहल की। गढ़वाली के प्रारंभिक नाटककारों में ललितमोहन थपलियाल कृत 'खाडू लापता' कई स्थलों पर मंचित हुआ। नाट्य शैली में उर्मिल कुमार की गहरी पैठ थी। गिरधारी प्रसाद 'कंकाल', वीरेन्द्र मोहन रतूड़ी, दामोदर प्रसाद थपलियाल, स्वरूप ढौंढियाल, पुरुषोत्तम ढौंढियाल आदि कई अन्य नाटककार प्रसिद्धि में आए। इस क्षेत्र में 'पर्वतीय कलामंच' (देहरादून), 'शैलनट' (कोटद्वार) तथा दिल्ली की कुछ संस्थाओं ने कई शहरों में नाटकों का मंचन कर हिमक्षेत्र की गरिमा, शाश्वत सत्य तथा कला और संगीत को प्रोन्नत किया। कहाँ गए वे लोग!

इन नाटकों में पर्वतीय क्षेत्र के पुराने वाद्य यंत्रों के साथ-साथ शनैः-शनैः आधुनिक वाद्ययंत्रों का समावेश भी होने लगा। अब तो ढोल-रौंटी, मोछंग, नरसिंहा, हुड़का आदि के दर्शन कुछ विशेष अवसरों पर ही होते हैं। सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में भी शादी-विवाह के अवसरों पर आजकल शहरों से 'देसी' गाजे-बाजे बुलाए जाते हैं। ढोल-रौंटियाँ खूंटों पर निःशब्द टंगी धूल चाट रही हैं।

लोक कलाएँ

उत्तराखंड में भवन-निर्माण की एक विशिष्ट पद्धति होती थी। छज्जे सहित हवादार डंड्यालियाँ, तिबारियाँ, जंगले आदि को निर्मित करने की भिन्न शैलियाँ थी। गढ़वाल क्षेत्र में इकारे, दो पुरे (वुबर-मंज्यौळ), ढैपुरे (ढाइ मंजिल वाले) तिपुरे भवन बनते थे। कुमाउँ में एकदरी, दो दरी चाक होते थे। दोनों मंडलों में छत पटाल (खानों से निकली चपटी स्लेट) से छाया जाती थी। यही पटाल भवनों के आगे निर्मित प्राँगणों में सलीके से सटा कर बिछी होती थी। मंदिरों के निर्माण की भी एक विशिष्ट पद्धति थी। जो देश के अन्य भागों से भिन्न होती थी। अब तो मिट्टी का स्थान सीमेंट तथा ढुंग-पत्थरों की जगह ईंटों ने ले लिया है। आजकल तो छत छाने के लिए इस क्षेत्र में भी लिंटर का प्रयोग होने लगा है।

इन भवनों की एक मुख्य विशेषता यहाँ की कलात्मक तिबारियों डंड्यालियों, जंगलों, प्रवेश द्वारों, सिंगाड़ो, चौखटों तथा अन्य काष्ठ स्तंभों पर

उत्तराखंड की सांस्कृतिक और भाषिक हासोन्मुखा

चित्ताकर्षक नक्काशी होती थीं। काष्ठ के कई अन्य उपस्करों और उपकरणों पर भी इसी प्रकार की लुभावनी आकृतियाँ बनी होती थीं। काष्ठ पर उत्कीर्ण यह कला अब विलुप्त सी हो गई है।

उत्तराखंडीय लोक-संस्कृति के सजग सचेतक प्रहरी और पुरोधा डॉ. यशोधर मठपाल का मत है कि जिस तीव्रता से पहाड़ों की हरीतिमा विनष्ट होती जा रही है उससे भी अधिक तीव्र गति से यहाँ की लोक कलाओं का ह्रास भी नजर आ रहा है। वे यहाँ के काष्ठ शिल्प के विलुप्त होने पर क्षुब्ध हैं। उत्तराखंड में अनाज रखने के- 'दाबले' (कोठार), दैनंदिन जीवनोपयोगी उपस्कर, दूध-दही के बर्तन, कृषि कार्य में उपयोग किए जाने वाली वस्तुएँ सभी कुछ काष्ठ आधारित होती थीं। उनका स्थान अब धातु और प्लास्टिक ने ले लिया है। लोक-कलाएँ अब लहलुहान हो रही हैं। कुमाउँ-गढ़वाल क्षेत्र का वह विलक्षण काष्ठ-शिल्प अब नष्टप्राय है।

सांस्कृतिक विरासत का क्षरण

उत्तराखंड का उच्च अभिजात वर्ग ही नहीं, सामान्य जनजातीय वर्ग भी कतिपय वर्षों पूर्व तक अपने विशिष्ट रहन-सहन, आचार-विचार, जीवन पद्धति, वस्त्राभूषण, सामाजिक परंपराएँ, आस्था एवं विश्वास आदि में एक पृथक पहचान के लिए ख्यात था। यहाँ के निवासियों में अपनी जड़ों के प्रति लगाव था। परंपराओं के निर्वहन के प्रति कुछ न कुछ कटिबद्धता होती थी। गरीब से गरीब घर की कन्या केवल कुलीनता के आधार पर धनी परिवार की बहू बन जाती थी। विवाह बिना किसी आडंबर के सादगीपूर्व ढंग से थोड़े ही खर्च में संपन्न हो जाते थे। तब अन्तरजातीय विवाह तो अकल्पनीय सा था। परन्तु अब बहुत से युवक छोटी-बड़ी प्रशासनिक सेवाओं में चयनित हो जाने के बाद पर्वतीय कन्याओं की उपेक्षा करके, दहेज के लालच में अथवा आधुनिकता के प्रभाववश अन्तरजातीय विवाह कर लेते हैं। तलाक जैसे अशुभ शब्द अब यहाँ भी सुनाई दे रहे हैं।

इसी आधुनिकता की मृग-मरीचिका की अंधी दौड़ में अधिकांश नई पीढ़ी के युवा वंशानुगत सारल्य और भोलेपन को भूलते जा रहे हैं। 90 के दशक में प्रारंभ हुए सूचना प्रौद्योगिकी, वैश्वीकरण, बाजारवाद, उपभोक्तावाद

का दुष्प्रभाव हमारी पुरानी थाती तथा वर्षों से सुरक्षित धरोहरों पर भी लक्षित है। परंपरागत रीतिरिवाज, वस्त्राभूषण, खान-पान, पर्व और उत्सव क्षेत्रीय संस्कृति को विशिष्ट पहचान देते हैं। जड़ों से लगाव सांस्कृतिक विशेषता का द्योतक है। अंचल विशेष की आस्थाओं, विश्वासों, लोकगाथाओं, लोकगीतों, लोकोक्तियों और संस्कारों द्वारा उस क्षेत्र की संस्कृति प्रतिबिंबित होती है। परन्तु कहीं-कहीं इनका अनुसरण अब पिछड़ेपन या दकियानूसी का प्रतीक समझा जाने लगा है।

उत्तराखंड-निवासियों की धमनियों में सदा से ही श्रम और संघर्ष का रक्त प्रवाहित होता रहा। परन्तु अब ग्रामीण युवकों में भी अकर्मण्यता और निष्क्रियता प्रवेश कर रही है। छोटे-मोटे कस्बों में दुकानों के सामने खड़े एक हाथ पैंट की जेब और दूसरे हाथ से बीड़ी-सिगरेट सुलगाते पहाड़ी 'ढौळ', टोन व लहजे से हिन्दी में बात करते युवाओं को देखकर मन व्यथित हो जाता है। मॉडर्न दिखने की होड़ में सुदूर गावों के माता-पिता अपने नौनिहालों से 'ब्बे-बुबा', 'इजा-बाबु' के बजाय मम्मी-डैडी (और कहीं-कहीं अब मौम-डैड) बुलवाना पसन्द करते हैं। चचा, काका, बड़ा जी, जठ्वा, काकजू, ज्यारे, कंसबाबु, जेठबाजू, ठुलबाजू, ममा, माम, फूफा सभी अब 'अंकल' हो गए हैं। इसी प्रकार बडि, बड़ी जी, चाचि, मामि, फूफ-कैजा आदि सब के नाम बदल गए हैं। नव विवाहित बहुएँ अब सासु के लिए मम्मी, ससुर के लिए पापा तथा सभी बड़ों के लिए 'जि' या 'ज्यौर' के स्थान पर 'अंकल' बोलना पसंद करते हैं। शीघ्र ही ससुर-ज्योर और सासु ज्योर अब अंकल व आंटी बन जायें तो आश्चर्य नहीं। यह सब सुन-देख कर परंपरानुयायी बड़े-बूढ़ों के हृदय में उठी मर्मन्तक वेदना का सहज आभास किया जा सकता है। नवयुगीन यह प्रवृत्ति संस्कृति के ह्रासीकरण के साथ-साथ मातृभाषिक क्षरीकरण का भी कारक है।

पहाड़ों की हरीतिमा विलुप्त हो गई है। 'पुंगड़े' (कृषि योग्य खेत) अब लहलहाते नहीं, लाल बंजर है। छज्जेदार, हवादार, नक्काशीदार डंड्यालियों व तिबारियों के स्थान पर सर्वत्र 'खंद्वार' खंडहर दिखाई देते हैं। यदि आज पर्वतपुत्र सुमित्रानंदन पंत अपनी जन्मस्थली पुनः जाते तो उनकी 'ग्राम्या' और 'ग्रामश्री' में वर्णित 'मखमल की कोमल हरियाली' तथा 'तिनकों के हरे तन पर, हिल हरित रुधिर है रहा झलक' उन्हें भी पूर्णतः विलुप्त मिलता! बहुत कुछ विनष्ट हो चुका है! पर्वतीय गाँवों की वह पूर्व चहल-पहल, वह रौनक, अब

उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक और भाषिक हासोन्मुखता

ढूँढते नहीं मिलती। वह सामूहिकता, समता, सौहार्द, सहकारिता, सद्भाव और समभाव सभी कुछ कहीं खो सा गया हैं। वहाँ जाने पर मन में बार-बार आता है 'कख होलि मेरी डांडी-काँठी, धौण कुयेड़ी सौण की!' अधिकांश गाँवों और इलाकों की स्थानीय विशिष्टता अब दृष्टिगोचर नहीं होती। जो कुछ है वह भौंडी नकल मात्र है। कुमाउँ क्षेत्र प्रारंभ से ही गढ़वाल मंडल की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत, समृद्ध, जागरूक और परंपरावादी रहा है। आज भी कुमाउँ मूल के अनेक प्रवासी बन्धु-बांधवों के घरों में 'ऐपण' और केले के खंभों से सजा घर आँगन, पूजा-घर में लगे जीव-मातृका के 'ज्यूँति' पट्टे देखने को मिलते हैं। कुमाउँ मंडल में ही नहीं, देश-विदेश के महानगरों में भी होली के अवसर पर हुल्यारों के मधुर गीतों के स्वर टॉनिक का काम करते हैं। क्षेत्रीय संस्कृति के संरक्षण की दिशा में यह स्तुत्य संकेत है।

समृद्ध भाषिक और साहित्यिक परंपरा भी अवनति की ओर उन्मुख

मध्यकाल में कुमाउँनी और गढ़वाली भाषाएँ क्रमशः चन्द और पँवार (परमार) राजाओं की दरबारी भाषा रही। समस्त राजकाज मौखिक रूप से इन दोनों स्थानीय भाषाओं में संचालित होता था। राजाज्ञाओं, मानपत्रों, दानपत्रों, मुद्राओं, सिक्कों आदि में इन भाषाओं के लिखित, अधिकांशतः विकृत नमूने मिलते हैं। उल्लेख्य है कि मध्य पहाड़ी का आदि साहित्य लोकगीतों, लोककथाओं, लोक गाथाओं, जागरों, लोकोक्तियों और मुहावरों में बिखरा पड़ा है। इनमें से अत्यल्प ही अभी तक प्रकाश में आ पाया है। पीढ़ियों से श्रुत और स्मृत रूप चला आ रहा यहा विशाल लोकसाहित्य भी यदि समयान्तर्गत प्रकाशित नहीं हो पाया तो वह भी विनष्ट हो जाएगा।

कुमाउँनी के लिखित परिनिष्ठित साहित्य में लोकरत्न पंत 'गुमानी' (सन् 1790-1846) को प्राचीनतम कवि माना जाता है। उनके पश्चात् कृष्णा पांडे, गौरीदत्त पांडे, शिवदत्त सती, श्यामचरण पंत, रामदत्त पंत, तारादत्त पांडे, चन्द्रलाल वर्मा, रमेशचन्द्र शाह, गिरीश तिवाड़ी 'गिर्दा', दुर्गेश पंत, जुगल किशोर पेटशाली, शेरसिंह बिष्ट 'अनपढ़', विख्यात साहित्यकार डॉ. शेरसिंह बिष्ट, डॉ. रामसिंह, डॉ. देवसिंह पोखरिया, दीपक कार्की आदि अनेक साहित्य-साधकों ने अपनी अमूल्य कृतियों से कुमाउँनी साहित्य की श्रीवृद्धि की। यह क्रम अब भी जारी है।

आजकल भी कुमाउँनी काव्यकारों में कई नामचीन सिद्धहस्त मनीषी हैं, जिनमें दिवा भट्ट, उमा भट्ट, कैलाशचन्द्र जोशी, हेमन्त बिष्ट, कुसुम भट्ट, मोहन चन्द्र जोशी, सुधीर शाह, रतन सिंह किरमोलिया, विनोद जोशी आदि अनेक नाम चर्चा में हैं। स्थान की न्यूनतावश सभी का उल्लेख और उनकी कृतियों का विवरण देना यहाँ संभव नहीं हो पा रहा है।

‘गढ़वाली’ पत्र के प्रथम अंक में सन् 1905 में प्रकाशित ‘उठा गढ़वालियों’ (सत्यशरण रतूड़ी कृत) को गढ़वाली काव्य-धारा की प्रथम स्तरीय कविता माना जाता है। तत्पश्चात् चन्द्रमोहन रतूड़ी, आत्माराम गैरोला, रत्नाम्बर दत्त चन्दोला, चक्रधर बहुगुणा, योगेन्द्र पुरी, श्रीधर जमलोकी आदि ने गढ़वाली काव्य धारा को आगे बढ़ाया। अबोधबन्धु बहुगुणा ने कई विधाओं में श्रेष्ठ रचनाएँ प्रस्तुत कीं। सुदामाप्रसाद प्रेमी, गोकुलानन्द किमोठी, जग्गू नौडियाल, भजनसिंह ‘सिंह’, महावीर प्रसाद गैरोला, चिन्मय सायर, नेत्रसिंह असवाल, प्रेमलाल भट्ट, प्रीतम अपह्याण, सतीश बलोधी, लोकेश नवानी, मधुसूदन थपलियाल, निरंजन सुयाल, कुटज भारती, ललित मोहन केशवान, हरीश जुयाल आदि अनेक प्रतिभासंपन्न साहित्य सेवियों ने गढ़वाली में उच्च कोटि की रचनाएँ प्रस्तुत कीं। नरेन्द्रसिंह नेगी लोकगीतों के क्षेत्र में विशेष रूप से लोकप्रिय बन रहे हैं। इनके अतिरिक्त कई नामचीन उदीयमान कवि भी हैं जिनके नाम इस लघु लेख में स्थानाभाव के कारण सम्मिलित नहीं किए जा सके। परन्तु इधर कोई महाकाव्य या खंडकाव्य देखने को नहीं मिला। उपन्यास लिखने अथवा पढ़ने के लिए समय किसके पास है?

भाषा और साहित्य के उत्थान की वास्तविक कसौटी गद्य (गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति) माना गया है। दोनों भाषाओं में असंख्य लोक-कथाएं और लोकगाथाएँ हैं। परन्तु गद्य-लेखन में काव्य की अपेक्षा कम प्रगति हुई। हयात सिंह रावत प्रणीत निबंध और कहानी संग्रह, योगेन्द्र प्रसाद जोशी का कहानी-संग्रह तथा डॉ. शेरसिंह बिष्ट का निबंध-संग्रह ‘मन्खि’ कुमाउँनी गद्य-लेखन के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य निबंध व कहानी संग्रह और कुछेक उपन्यास भी प्रकाश में आए हैं।

गढ़वाली भाषा और साहित्य का उद्भव गद्य से ही हुआ। गोविन्द प्रसाद घिल्डियाल द्वारा संस्कृत हितोपदेश का अनुवाद तथा ‘राजनीति का पैलो भाग’ को इस दिशा में प्रथम प्रयास माना जाता है। भवानीदत्त थपलियाल,

उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक और भाषिक हासोन्मुखता

ललितमोहन थपलियाल आदि के नाटक, मोहनलाल नेगी के कहानी-संग्रह, अबोध बन्धु बहुगुणा के निबंध-संग्रह और लेख-संपादन तथा कुछ अन्य गद्य रचनाएँ प्रकाश में आईं। वर्तमान में गद्य के प्रति साहित्यकारों का रुझान लगभग शून्य है। पिछले दो दशकों में किसी भी स्तरीय गद्य-रचना का नाम चर्चा का विषय नहीं बन पाया।

कुमाउँनी में भाषा, साहित्य और संस्कृति के विभिन्न अंगों पर अनेक आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक स्तरीय ग्रंथों का प्रणयन हुआ। डॉ. त्रिलोचन पांडेय और डॉ. हरिदत्त भट्ट 'शैलेश' ने उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के तत्त्वावधान में क्रमशः कुमाउँनी और गढ़वाली के भाषिक तथा भाषा वैज्ञानिक, व्याकरणिक आदि पक्षों पर तथा डॉ. हेम चन्द्र जोशी, डॉ. केशवदत्त रुवाली, डॉ. नारायणदत्त पालीवाल, डॉ. त्रिलोचन पांडेय, डॉ. भवानी दत्त उप्रेती, प्रो. डी.डी. शर्मा प्रभृति अनेक शीर्षस्थ विद्वानों ने गवेषणात्मक ग्रंथ प्रस्तुत किए। इन मनीषियों द्वारा निर्देशित दिशाओं पर अभी भी कुमाउँनी के भाषा वैज्ञानिक पक्षों पर शोधात्मक कार्य जारी हैं।

डॉ. गुणानन्द जुयाल तथा डॉ. गोविन्द चातक एवं डॉ. डी.डी. शर्मा ने गढ़वाली और कुमाउँनी को समवेततः 'मध्यपहाड़ी' के अन्तर्गत लेकर इन दोनों भाषाओं और उनकी बोलियों पर विश्लेषणात्मक विवेचना प्रस्तुत की। चातक तथा शैलेश ने गढ़वाली भाषा-साहित्य पर स्वतंत्र रूप से भी पुस्तकें लिखीं। डॉ. उमाशंकर सतीश तथा डॉ. अनूप चन्दोला ने गढ़वाली के ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक अवयवों को लेकर शोधकार्य किया, परन्तु इनकी जानकारी न्यून है। सतीश ने जौनसारी को अपने शोधात्मक अध्ययन का विषय चुना लेकिन उनकी भाषा वैज्ञानिक उपलब्धियों का पुस्तकाकार स्वरूप प्रसार में नहीं है। गढ़वाली के लोकसाहित्य पर तो प्रभूत मात्रा में शोध कार्य हो रहा है। परन्तु भाषिक और भाषावैज्ञानिक अथवा व्याकरणिक पक्ष बहुत कम युवा अनुसंधित्सुओं का ध्यानाकर्षण कर पाए। यह चिन्तनीय है। गढ़वाली तो कुमाउँनी के ही सदृश एक भाषा ही नहीं भाषातीर्थ भी है। इसमें शोधकार्य की अपार संभावनाएँ हैं।

कोश-निर्माण की दिशा में भी इन दोनों भाषाओं में प्रशंसनीय कार्य किया गया। इस संदर्भ में डॉ. नारायण दत्त पालीवाल एवं डॉ. केशवदत्त रुवाली के 'कुमाउँनी-हिन्दी शब्दकोश' तथा डॉ. शेरसिंह बिष्ट प्रणीत 'हिन्दी-

कुमाउँनी-अंग्रेजी शब्दकोश' एवं 'कुमाउँनी-हिंदी कहावत कोश' उल्लेखनीय प्रस्तुतियाँ हैं। गढ़वाली भाषा के उन्नयनार्थ मालचन्द रमोला, जयलाल वर्मा तथा अरविन्द पुरोहित-बीना बेंजवाल ने गढ़वाली-हिंदी कोश निर्मित किए। इस दिशा में डॉ. अचलानन्द जखमोला के प्रधान संपादकत्व में सद्यः निर्मित 'गढ़वाली-हिंदी-अंग्रेजी' त्रिभाषीय कोश नवीनतम और विशिष्ट योगदान है।

वर्तमान परिदृश्य

पिछले दो-तीन दशकों से उत्तराखंडीय भाषिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक परिदृश्य कुछ बदला-बदला सा नजर आ रहा है। यह पुण्य प्रदेश भी वैश्वीकरण, सूचना प्रौद्योगिकी, बाजारवाद, उपभोक्तावाद आदि के कुप्रभाव की चपेट में आ रहा है। तथाकथित शिक्षित और आधुनिकता के रंग में रंगा युवावर्ग अपनी युगों से पोषित संस्कृति, सभ्यता और इनकी प्रमुख संवाहिका भाषा-बोली से विमुख होता जा रहा है।

वर्तमान उत्तराखंड का मौलिक और स्तरीय साहित्यिक उत्कर्ष ढलान पर है। बीसवीं शती के साठ-अस्सी के दशकों की वह ऊर्जा, ठसक, स्फूर्ति और उत्साह कहीं लुप्त सी हो रही है। कुमाउँनी में गुमानी, गौरदा और शेरदा की कविताएँ, गिर्दा की सुमधुर सुरीली आवाज में गाए गीत अब कम सुनने या पढ़ने को मिलते हैं। यही स्थिति गढ़वाली की है। सन् 1990 के पश्चात् 'भुम्याल' या 'नागर्जा' सदृश कोई विरल ही वृहद काव्यग्रंथ प्रकाश में आया। 'जोनि पर छाप किलै' या 'एक कौळि किरण' के समतुल्य कोई गद्य रचना दिखाई नहीं दी। आदित्यराम दुधपुड़ी जैसे तपोनिष्ठ अनुवादक अब नहीं मिलते। 'बेडु पाको बारा मासा', 'प्यारी छुया बौ' या 'डिबली भकम भम सरौला' अथवा 'तीले धारू बोला' की तान और लय मालूम नहीं कहाँ विलुप्त हो गई हैं। कुछ निष्ठावान अंगुलिगण्य साहित्यसेवियों को छोड़कर अन्यो की लौहलेखनी खुंडी (कुन्द, मन्द धारहीन) सी हो गई है। उन पर जंक लग गया है। आज के उत्तराखंड की माटी उच्च स्तरीय शाश्वत साहित्य के सृजन के लिए अनुर्वरक ही प्रतीत हो रही है। गद्य लेखन के प्रति रुझान तो नगण्य सा है।

उत्तराखंड राज्य-निर्माण के पश्चात् अवश्यमेव कुछ समय के लिए साहित्यिक क्षेत्र में एक नई बयार का झोंका आया। लोक-भाषाओं के प्रति नई

उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक और भाषिक हासोन्मुक्ता

चेतना प्रस्फुटित हुई। भाषा के संरक्षण और उन्नयन की दिशा में जागरूकता दिखाई दी। संविधान की आठवीं अनुसूची में कुमाउँनी-गढ़वाली को सम्मिलित करने के लिए ठोस पहल की गई। देहरादून में भाषा संस्थान गठित हुआ। परन्तु यह सब कुछ इन क्षेत्रीय भाषाओं को क्षरण से सुरक्षित रखने के लिए पर्याप्त नहीं है।

आज का युवा साहित्यकार असमंजस के चौराहे पर खड़ा दिग्भ्रान्त है। त्वरितता के सिद्धान्त से प्रभावित और रचित साहित्य में गहनता और स्थायित्व कैसे मिलेगा? मुक्तक तथा लोकगीतों के संग्रह आए दिन लोकार्पित हो रहे हैं जिनमें मात्राधिक्य तो है परन्तु इनके गुणाधिक्य का आकलन तो भविष्य ही करेगा। गद्य लेखन में रुचि मलिन होती जा रही है। कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश रचनाओं का लेखक 'फाइव इन् वन्' है- लेखक, मुद्रक, प्रकाशक, वितरक तथा पाठक सब कुछ स्वयं करना पड़ता है। ऐसे वीरान परिदृश्य में किस प्रकार के साहित्य की अपेक्षा करें?

वाग्व्यवहार में लोक भाषाओं का हासीकरण

आज का उत्तराखंडी समाज आधुनिकता के मिथ्याभिमान से ग्रसित होकर अपनी 'दुद्बोली' से विलग होता जा रहा है। युवा वर्ग यहाँ की आंचलिक भाषा को तिलांजलि देकर सामान्य वाग्व्यवहार में भी उधार ली हुई भाषा, हिन्दी-अंग्रेज़ी में ही वार्तालाप करने में गौरव और स्वाभिमान समझते हैं। बीस-तीस वर्ष पूर्व के उत्तराखंड में यदि कोई हिन्दी में बात करता सुनाई देता तो इसे 'शान बघारना' समझा जाता। परन्तु अब इसी क्षेत्र में जन्मे, पले और बढ़े कई व्यक्तियों से मातृभाषा में बात करने पर प्रत्युत्तर हिन्दी-अंग्रेज़ी की मिश्रित खिचड़ी में मिलता है। मातृभाषा की अनभिज्ञता (लेम इक्सक्वूज?) इसका कारण बताया जाता है। कहीं-कहीं यह भी सुनने को मिलता है कि वे इन क्षेत्रीय भाषाओं में पूर्णतः अपनी भावाभिव्यक्ति नहीं कर पाते। इनको बाजार में पूछने वाला कोई नहीं है। इन्हें कैसे बताएँ कि वेद, पुराण, आरण्यक, भगवद् गीता, उपनिषद् आदि बाजार की माँग पर निर्मित नहीं किए गए थे।

इसे दुर्योग ही समझा जाना चाहिए कि आधुनिक दीखने की होड़ से वशीभूत वर्तमान कुछ उत्तराखंडी शिक्षित और शहरी वर्ग इन आंचलिक भाषाओं

को अशिक्षा और पिछड़ेपन का प्रतीक मान कर इनके प्रति उदासीन है। कुछ छोटी-मोटी नौकरी करने वाले युवक भी हीन भावना से ग्रसित होकर गढ़वाली या कुमाउँनी में वार्तालाप करने में संकोच और झिझक करते हैं। कुछ वर्षों पूर्व तक केवल संपन्नों ने क्षेत्रीय भाषाओं के स्थान पर पहले हिन्दी और फिर अंग्रेज़ी को वरीयता दी। परन्तु अब तो विपन्नों का भी यही प्रयास रहता है कि मातृभाषा को त्याग कर शीघ्रतिशीघ्र हिन्दी और फिर सामर्थ्य तथा अनुकूल अवसरानुसार अंग्रेज़ी अपनाना प्रारंभ करें।

कुमाउँनी और गढ़वाली को 'दुद् बोली' अर्थात् माँ के दूध के साथ प्राप्त की हुई भाषा कहा जाता है। परन्तु आश्चर्य है उत्तराखंड की माताएँ अपने नौनिहालों के साथ आपने पुरखों की भाषा की अपेक्षा हिन्दी में बात करना क्षेयस्कर समझती हैं। माता-पिता को बच्चे का प्रथम शिक्षक माना गया है। यदि वे ही अपने बच्चों से अपनी बोली में नहीं बतियायेंगे तो उन बालक-बालिकाओं का इन भाषाओं से विलग होना स्वाभाविक है।

ज्ञातव्य है कि भारत के सभी दक्षिणी प्रान्तों तथा बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रदेशों के माता-पिता और सामान्य जन अपने घर-परिवार, परिवेश और प्रदेश से बाहर एवं विदेशों में भी अपने बच्चों, परिजनों, बंधु-बंधवों और सभी समारोहों में अपनी मातृभाषा (क्षेत्रीय भाषा) के अतिरिक्त किसी भी अन्य भाषा में वार्तालाप नहीं करते हैं। परन्तु उत्तराखंडी जन अपने ही भाषिक वातावरण में रहते हुए भी बाहर की भाषा में बोलना अधिक पसन्द करते हैं।

यह सत्य है कि जीवन की महत्ता भाषा से अधिक है। गढ़वाली और कुमाउँनी लोक-भाषाएँ रोटी और रोजी नहीं दिला सकतीं। चुपड़ी रोटी की भाषा तो अब हिन्दी भी नहीं रह गई हैं। खुलते हुए व्यापक क्षितिजों में अब वैश्विक भाषा अंग्रेज़ी का ही बोलबाला है। उत्तराखंडीय लोक-भाषाएँ न तो राजभाषा हैं, न धर्म या संस्कार की। ध्यान रहे कि दैनिकी कार्यों, वागव्यवहार और सामाजिक अवसरों तथा समारोहों में इनके प्रयोग से हमारी जड़ें सुदृढ़ होंगी तथा हमारी अस्मिता और स्वतंत्र पहचान अक्षुण्ण बनी रहेगी। साथ ही अपनी समृद्ध संस्कृति से जुड़ाव रहेगा जिससे पारस्परिक ऐक्य, प्रेम और सद्भाव बढ़ेगा।

उत्तराखंड की सांस्कृतिक और भाषिक हासोन्मुखता

कुछ बोलियाँ विलुप्ति के कगार पर

निस्संदेह उत्तराखंड की लोकभाषाओं का ह्रास होता जा रहा है। परन्तु चिन्ताजनक स्थिति तो यह है कि इस प्रदेश की कुछ बोलियाँ विलुप्ति की कगार पर खड़ी हैं। यह भयावह परिदृश्य विश्वभर की कई अन्य भाषा – बोलियों पर भी चरितार्थ होता है। इसे विडंबना ही समझना चाहिए कि गिनी-चुनी भाषाओं को छोड़कर मनुष्य को मनुष्य कहने का हक दिलाने वाली कई भाषाएँ संकटग्रस्त हैं। अमेरिका स्थित 'समर इन्स्टीट्यूट' तथा यूनेस्को के तत्त्वावधान में प्रकाशित 'एटलस' में इस विषय पर समय-समय पर समीक्षात्मक लेख निकलते रहते हैं।

मोटे तौर पर विश्वभर में लगभग 300 प्रमुख भाषाएँ तथा 7000 बोलियाँ हैं। इनमें से 500 बोलियाँ विलुप्त हो चुकी हैं और कुछ विलुप्त होने वाली हैं। आँकड़े दिखाते हैं कि प्रत्येक पखवाड़े में प्रायः एक बोली विनष्ट हो रही है। लगभग 500 बोलियों पर आज संकट के बादल मँडरा रहे हैं। भारत में भील, भूमिज, मुंदारी, कुड़स, कुरध, आरांव आदि कई बोलियों का अब कोई नाम लेना नहीं बचा है। उत्तराखंड की बंगाणी, मार्ल्या, तोलछ, ज्याड़ा, जौनसारी, बुक्सा, रङ्, जोहारी, राजी, थारू आदि कुछ सीमान्त बोलियों का अस्तित्व खतरे में हैं। ध्यातव्य है कि भाषाएँ लिपिबद्ध होकर तथा बोलियाँ बोलकर ही जीवित रह सकती हैं। जिस भाषा में लिपिबद्ध साहित्य उपलब्ध नहीं है और जिस बोली का दैनन्दिन व्यवहार में स्वाभाविक रूप से प्रयोग नहीं होता, जो सामान्य वागव्यवहार से दूर होती जाएगी, उसको विनष्ट होने से कोई नहीं बचा सकता। उत्तराखंडवासियों को यह खतरे की घंटी समयान्तर्गत सुन लेनी चाहिए।

निष्कर्ष

भाषा के ह्रासीकरण तथा उसके अनुरक्षण के संदर्भ में इस तथ्य को भी अवहेलित नहीं किया जा सकता कि सूचना-प्रौद्योगिकी, भूमंडलीकरण, बाजारवाद, उपभोक्तावाद तथा आर्थिक समृद्धि के वर्तमान वातावरण में आज के व्यक्ति के लिए प्राचीनता के प्रत्येक क्षेत्र से चिपका रहना, अपने खानपान, रहन-सहन, वस्त्राभूषण, आचार-विचार या जीवनपद्धति को अपने पूर्वजों के

उत्तराखण्ड की लोकभाषाएँ : स्वरूप और चुनौतियाँ

अनुरूप चलाना और प्रत्येक क्षेत्र में सर्वत्र तथा सदैव अपनी स्वतंत्र पहचान बनाए रखना न तो संभव है और न व्यवहार्य ही। आज की जीवन शैली सार्वभौमिकता के सिद्धान्त पर आधारित है। अतः स्वाभाविक है कि आज के प्रगतिशील प्रबुद्ध युवा-वर्ग को वर्तमान आर्थिक और वैज्ञानिक उपलब्धियों पर आधारित सुख-सुविधाओं से पूर्णतः वंचित रखना न तो संभव होगा, न व्यावहारिक और न बुद्धिसंगत। आर्थिक विकास के इस युगानुरूप वाह्य जगत के साथ कदम से कदम मिला कर आगे बढ़ना समय की माँग है।

फिर भी अन्त में यह समझना भी आवश्यक है कि अपने संस्कारों से जुड़ाव, सामाजिक मूल्यों का परिपालन, रोजमर्रा के पारिवारिक और सामाजिक कार्यकलापों में मातृभाषा (दुद्बोली) का प्रयोग करने से हमें गौरवानुभूति होगी। इसे अतिक्षेत्रीयता अथवा अलगाववाद का कारक नहीं समझना चाहिए। यथासंभव अति आधुनिकता के मिथ्याभिमान के मकड़जाल से हम दूर ही रहें तो श्रेयस्कर होगा।



गढ़वाली-कुमाउँनी भाषाओं का मानकीकरण

उत्तराखण्ड राज्य का अधिकांश भू-भाग पर्वतीय है। इसकी भौगोलिक बनावट, ऊँची-नीची पर्वत श्रृंखलाओं, अनेक छोटी-बड़ी नदियों, दुरूह घने जंगलों, हिमशृंगों के विशाल प्रांगणों में विस्तीर्ण बुग्यालों, दुर्गम पठारों आदि से निर्मित है। इन विकट परिस्थितियों में सड़कों का निर्माण सीमित रहा। यातायात के साधनों का अभाव एवं विषम भौगोलिक बनावट के कारण आवागमन में कमी, पारस्परिक जनसंपर्क में न्यूनता और तदनुसार भाषा का प्रचार-प्रसार नगण्य सा होना स्वाभाविक था। फलतः सामान्य जन-समूह अपने ही क्षेत्र तक सीमित रहने तथा उसी छोटे से इलाके की बोली बोलने के लिए विवश रहा।

वैसे तो 'चार कोस पर वाणी बदले, दो कोस पर पाणी' उक्ति सभी इलाकों पर चरितार्थ होती है, परन्तु लगभग सभी पार्वत्य प्रदेशों में यह स्थिति अधिक विद्यमान है। गढ़वाली-कुमाउँनी 'वाणियों' में तो यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत और भी अधिक प्रबल है। यहाँ थोड़ी-थोड़ी दूरी पर ध्वनिगत और रूपगत वैभिन्न्य मिलता है। लम्बे समय से शीर्ष भाषाविदों के निरंतर सद्प्रयासों के बावजूद भी इन भाषाओं की वर्तनी में एकरूपता लाने, दूसरे शब्दों में 'मानकीकरण' का समाधान अभी तक प्रतीक्षारत है।

क्या है मानकीकरण?

वर्तनी के मानक रूप के निर्धारण का अभिप्राय क्या है? मानक अर्थात् आदर्श, श्रेष्ठ अथवा परिनिष्ठित। डॉ. भोलानाथ तिवारी ने 'मानक' शब्द की व्याख्या करते समय साधुभाषा, टकसाली भाषा, शुद्ध-अशुद्ध भाषा जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। मानक का तात्पर्य है निश्चित या स्थिर किया हुआ वह सर्वमान्य और सर्वस्वीकृत मापदंड, मान या माप जिसके अनुसार योग्यता, श्रेष्ठता तथा गुण आदि के आधार पर मानदंड (स्टैंडर्ड) निश्चित किए जाएँ। तथैव, भाषा के संदर्भ में मानकीकरण का अभिप्राय होगा भाषा और उसके मुख्य अवयव यथा वर्ण तथा उनसे निर्मित शब्द को संस्कृत, परिमार्जित,

दोषरहित और अन्ततः स्थिर करना (स्टैंडर्डाइजेशन)। डॉ. भोलानाथ तिवारी इस शब्द की व्युत्पत्ति 'स्टैंडर्ड' से नहीं बल्कि 'स्टैंड' (खड़ा होना) से मानते हैं, अर्थात् जो औरों के लिए प्रतिमान का काम करे। ग्रामीण बोली से क्रमशः विकसित और परिनिष्ठित रूप धारण करने के उपरान्त जब कोई भाषा शिक्षा, साहित्य, प्रशासन आदि सभी क्षेत्रों में सर्वग्राह्य रूप में प्रयुक्त होने लगती है, तो इसे ही 'मानकीकरण' कहा जाता है।

मानकीकरण का कोशगत अर्थ है- वह निश्चित या स्थिर किया हुआ सर्वमान्य रूप या माप जिसके अनुसार किसी प्रकार की योग्यता, श्रेष्ठता, गुण आदि का अनुमान अथवा कल्पना की जाय। कुछ कोशों में इसे एक ही जैसी बहुत सी वस्तुओं में से 'एक या कुछ का मानक स्थिर करना' बताया गया है। भाषा के संदर्भ में 'मानक भाषा' को क्षेत्र विशेष की संस्कारित भाषा माना जाता है। प्रो. शेर सिंह बिष्ट के अनुसार प्रशासनिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक कारणों से जब किसी क्षेत्र विशेष में व्यवहृत बोली अपने आसपास की बोलियों की तुलना में विशिष्टता और अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर लेती हैं तो उसके मानक रूप धारण करने की संभावना बढ़ जाती है। इस तरह एक ही प्रकार के भाव, अनुभूतियाँ, विचार या अर्थ को द्योतित करने वाले अनेक शब्दरूपों में से किसी एक का चयन कर, उसे सर्वमान्य रूप देना तथा साथ ही उसके अन्य विकल्पों का त्याग करना मानकीकरण है। इससे भाषा में स्थिरता और सर्वमान्यता आती है एवं व्याकरण सम्मत रूप के निर्धारण में सहायता मिलती है। शनैः शनैः निरंतर प्रयोग से उस रूप को सामाजिक स्वीकार्यता प्राप्त हो जाती है तथा स्तरीय शब्दकोशों में भी वह रूप मुख्य प्रविष्टि की तरह अंकित मिलता है। कालान्तर में यह शब्दरूप शिक्षा, संस्कृति, साहित्य एवं राजकाज का माध्यम बनने पर मानक रूप हासिल कर लेता है।

मानकीकरण की दिशा में प्रयास

भाषा भाव-विनिमय और पारस्परिक सम्पर्क का मुख्यतः उच्चरित और गौणतः लिखित साधन है। भले ही उच्चरित भाषा लिखित भाषा की अपेक्षा अधिक प्राचीन और शक्ति सम्पन्न हो, उसको स्थायित्व लिखित रूप से ही मिलता है। गढ़वाली भाषा के कुछ चिन्तनशील लेखकों को आभास होने लगा था कि गढ़वाली के उच्चरित और लिखित रूपों में वैभिन्न्य है। फलतः उसके मानकीकरण पर चर्चा होने लगी। 14 अगस्त सन् 1983 को 'गढ़वाली

गढ़वाली-कुमाउँनी भाषाओं का मानकीकरण

भाषा परिषद 'देहरादून के तत्त्वावधान में एक विशाल गोष्ठी आयोजित की गई, जिसमें गढ़वाल प्रभाग के लगभग सभी जाने माने बहुचर्चित लेखकों और साहित्यकारों ने भाग लिया। व्यापक विचार विमर्श के उपरान्त अभिमत निकला कि श्रीनगर-टिहरी के आसपास की बोली को गढ़वाली भाषा का मानक बनाया जाय। दुर्योग रहा कि अन्ततः इस पर सर्वमान्यता तो दूर, अधिमान्यता भी नहीं बन पाई और स्थिति आज भी लगभग जस की तस है। इस विषय पर यदा-कदा क्षेत्रीय पत्रिकाओं में लेख अभी भी निकलते रहते हैं। आश्चर्य है कि कुछ लोगों का यह भी मत है कि गढ़वाली भाषा के मानकीकरण की आवश्यकता ही नहीं है, बस लिखते रहो। मानकीकरण अपने आप हो जाएगा। ऐसे विचारकों को सलाह है कि वे इस बात पर मनन करें कि अमरकोश का दूसरा नाम 'नामलिंगानुशासन' क्यों रखा गया तथा हेमचन्द को 'शब्दानुशासन' लिखने की क्यों जरूरत पड़ी? अनुशासन रहित भाषा का क्या हश्र होगा, इस पर चिन्तन करें। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी शब्दानुशासन' में इस विषय पर विस्तार से विवेचन किया है।

कुमाउँनी भाषा पर कुछ श्रमशील विद्वानों ने प्रशंसनीय, शोधपरक और सर्वेक्षणात्मक कार्य किया जिसमें प्रो. शेर सिंह बिष्ट प्रणीत 'कुमाउँ हिमालय की बोलियों का सर्वेक्षण' एक महत् उपलब्धि है, परन्तु गढ़वाली भाषा के आन्तरिक और बाह्य पक्ष का विश्लेषण करें तो प्रत्यक्ष है कि डॉ. गुणानन्द जुयाल और डॉ. गोविन्द चातक के अतिरिक्त इसके भाषा वैज्ञानिक, संरचनात्मक या ध्वन्यात्मक पक्षों पर व्यापक, सर्वांगीण अथवा अधिकृत गवेषणात्मक अध्ययन में कम ही विद्वानों ने रुचि ली। इन दोनों विद्वानों ने भी मानकीकरण के प्रश्न पर स्वतंत्र रूप से चर्चा नहीं की। समवेत विश्लेषणात्मक विवेचन के अभाव में गढ़वाली भाषा और वर्तनी के मानक रूप अभी भी स्थिर नहीं हो पाए हैं। यदा-कदा प्रकाशित लेखों में कई बार पुनरावृत्ति होती है कि गढ़वाल मंडल के उत्तरकाशी, चमोली, टिहरी, रुद्रप्रयाग, पौड़ी गढ़वाल तथा आंशिक रूप से देहरादून एवं हरिद्वार जनपदों और अंसख्य प्रवासी गढ़वाली प्रयोक्ताओं के उच्चरित और लिखित रूप में वैभिन्न्य है। इस विषय में यत्र-तत्र सतही तौर पर वार्ताएँ भी होती रहती हैं। परन्तु अभी तक न तो कोई तर्कसंगत समाधान सुझाए गए, और न आम सहमति की दिशा में गम्भीर प्रयास हुए।

सन् 1927 में जॉर्ज ग्रियर्सन का बहु-उद्धृत ऐतिहासिक भाषा-सर्वेक्षण प्रकाश में आया। एक मत यह भी है कि गढ़वाली भाषा की विघटनात्मक

प्रवृत्ति को इसी सर्वे के पश्चात् हवा मिलने लगी। राजस्व विभाग के पटवारियों और अन्य निम्नवर्गीय कर्मचारियों ने अपनी अपनी पट्टियों तथा परगनों को आधार मानकर यहाँ व्यवहृत बोलियों का नामकरण किया और इस प्रकार सर्वे की खाना पूर्ति कर दी। भाषा की आन्तरिक संरचना और पारस्परिक समता को दृष्टि में रखना तो बहुत दूर की बात थी। इन कर्मचारियों की अलग-अलग संस्तुतियों पर ग्रियर्सन महोदय ने इस क्षेत्र की बोलियों को परगनों और पट्टियों के आधार पर नाम दिए तदनुसार गढ़वाली की नौ तथा कुमाउँनी की तेरह बोलियाँ परिगणित हुईं। कई विद्वानों की यह भी धारणा है कि भाषा विज्ञान के नियमों से पूर्णतः अनभिज्ञ इन राजस्व कर्मचारियों के माध्यम से किया गया ग्रामीण बोलियों पर आधारित, यह गैरभाषावैज्ञानिक सर्वेक्षण ऐतिहासिक होते हुए भी भ्रामक और अपूर्ण सा है। यह धारणा उचित नहीं है। ध्यातव्य है कि ग्रियर्सन स्वयं एक अच्छे भाषा वैज्ञानिक थे। उन्होंने गढ़वाली और कुमाउँनी को समवेततः 'मध्य पहाड़ी' नाम से अभिहित किया, जिसका प्रयोग कालान्तर में डॉ. गुणानन्द जुयाल, प्रो. डी.डी.शर्मा, डॉ. गोविन्द चातक आदि के ग्रंथों में है।

तत्पश्चात् कुछ अन्य गढ़वाली साहित्यकारों ने भी इन बोलियों और उपबोलियों को अपने ढंग से वर्गीकृत किया। मोटे तौर पर गढ़वाली की उपबोलियों को ग्रियर्सन के ही आधार पर श्रीनगरी, नागपुरिया, दसौल्या, बधाणी, राठी, माझ-कुमैय्या, सलाणी, लोन्या चौदकोटी, टिहरियाली आदि नाम दिए गए। समस्त टिहरी क्षेत्र की बोलियों को ग्रियर्सन ने टिहरियाली के अन्तर्गत रखा। कालान्तर में टिहरियाली के पुनः छह उपभेद हुए-टकनौरी, बाड़ाहटी, रमोल्या, जौनपुरी, रवाँल्टी तथा बडियारगढ़ी। बंगाड़ी और जौनसारी की भिन्नता-समता पर अलग-अलग मत उभरे। कुल मिलाकर गढ़वाली की 14-15 बोलियाँ-उपबोलियाँ नामित हुईं। डॉ. शेरसिंह बिष्ट ने कुमाउँनी बोलियों को व्यापक सर्वेक्षण के आधार पर दस वर्गों में रखा - खसपर्जिया, चौगर्खिया, गंगोली, पछाई, दानपुरिया, रौ-चौभैसी, कुमय्या, सोर्याली, अस्कोटी और सीराली। इनके अतिरिक्त उन्होंने चार जनजाति बोलियों - राजी, शौका (जोहारी एवं रङ्) बुक्सा और थारू भी नामित की हैं।

सामान्यतः गढ़वाली की उक्त सभी बोलियों का बाह्य ढाँचा, वाक्य संरचना, व्याकरण और अधिकांश शब्दावली के मुख्य वर्ण और उनमें अन्तर्निहित भाव समान हैं। यही स्थिति कुमाउँनी बोलियों की भी है। दोनों जनपदों के

गढ़वाली-कुमाउँनी भाषाओं का मानकीकरण

निवासियों को अपने-अपने क्षेत्र-गढ़वाल और कुमाउँ में पारस्परिक व्यवहार या वार्तालाप करते समय एक दूसरे को समझने में किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं आती। फिर भी इन बोलियों को पूर्व में सामूहिक रूप में 'गढ़वाली' या 'कुमाउँनी' नाम देने में हिचकिचाहट सी बनी रही। इससे भी विभेदीकरण की वृत्ति को इन मंडलों में प्रश्रय मिला।

इसे विडंबना समझा जाय या विद्रूपता कि भारत में अन्यत्र तो भाषा के आधार पर प्रदेशों का नामकरण हुआ, यथा-बंगाल (बंगाली), उड़ीसा (उड़िया), तमिलनाडु (तमिल), महाराष्ट्र (मराठी), गुजरात (गुजराती), पंजाब (पंजाबी), हरियाणा (हरियाणवी) आदि, परन्तु उत्तराखंड क्षेत्र में व्यवहृत बोलियों को उनकी पट्टियों या परगनों के नाम से ही अधिक जाना गया। इससे मध्य हिमालयी भाषाओं में अलगाववादी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला। अंग्रेजों की 'बाँटो और शासन करो' नीति का कुचक्र यहाँ की भाषा पर भी चल पड़ा। दोनों मंडलों की किसी भी प्रमुख बोली को यथोचित सम्मान नहीं दिया गया। यदि उस बोली का व्यापक प्रचार और प्रसार प्रारम्भ से ही होने लग जाता तो आज इन दोनों भाषाओं की स्थिति बिल्कुल भिन्न होती। परन्तु 'अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग' का बोलबाला जोर पकड़ता गया जो आज भी कम नहीं हो रहा है।

उच्चारण और वर्तनी

गढ़वाली और कुमाउँनी भाषाएँ स्वर प्रधान हैं, अतः इनकी शब्दावली और भाषा में दृश्यमान विविधता मूलतः ध्वनिगत तथा उच्चारणगत है। इसलिए यहाँ पर उच्चारण और वर्तनी की पारस्परिकता पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। उच्चारण को अंकित करने के लिए व्यवस्थित चिहनों को 'लिपि' की संज्ञा दी गई है। उच्चरित और श्रुत रूप को लिपि चिहनों में अंकित करने के बाद ही उसे दृश्य-रूप मिलता है। लिपि भाषा का अभिव्यक्तिमूलक आवरण है। इस दृश्य-रूप आवरण में वर्ण, अक्षर और उनसे निर्मित शब्द होते हैं। वर्तनी शब्दों की स्पष्ट निर्धारित व्यवस्था हैं। उच्चारण पहले हैं, लिपि-बद्ध वर्तनी बाद में। कुछ अवधि के पश्चात् उच्चारण में परिवर्तन आ सकता है। वर्तनी में यह परिवर्तन अपेक्षाकृत बहुत धीमा होता है।

वर्तनी उच्चारण की अनुगामिनी होती हैं। उच्चारण के परिष्करण के

लिए कोई नियम नहीं बनाए जा सकते। अतः किसी भी उच्चारण को दोषपूर्ण कहना उचित नहीं है। संसार में किन्हीं भी दो व्यक्तियों का उच्चारण समान नहीं हो सकता। व्यक्तिगत उच्चारण में अनेकता, रूप-विविधता, शैली-भेद होते ही रहेंगे क्योंकि कि उच्चारण तो समाज-सापेक्ष, जाति-सापेक्ष, परिस्थिति-सापेक्ष और व्यक्ति-सापेक्ष है। परन्तु वर्तनी का परिष्करण आवश्यक है। एक ही शब्द के प्रत्येक उच्चारण को कोश में प्रविष्टि देना न सम्भव है और न औचित्यपूर्ण। इससे कोश के कलेवर में भी वृद्धि होगी। वर्तनी कोश और व्याकरण के अनुसार मान्य होगी। एक स्तरीय और प्रामाणिक कोश ही हमें बताएगा कि ओठ, ओंठ, होठ, होंठ अथवा पड़ौसिन या पड़ोसिन, पड़ोसन में से मुख्य प्रविष्टि अर्थात् नम्बर एक पर, कौन सा रूप अधिमान्य समझ कर रखा गया है। वही शब्द-रूप मानक होगा। अंग्रेज़ी शब्द तो देवनागरी में आठ प्रकार से प्रचलन में हैं। इनमें से जिसको प्राथमिकता के आधार पर कोश में मुख्य प्रविष्टि दी गई है उसे ही मानक समझा जाएगा। कहीं-कहीं द्विविध वर्तनी भी देनी पड़ती है। परन्तु ध्यान रहे कि शब्दों की वर्तनी में यदि एकरूपता और समानता नहीं होगी तो भाषा का प्रचार-प्रसार अवरुद्ध हो जाएगा। उसे स्थायित्व नहीं मिल पाएगा। उच्चारण तो अपनी स्वाभाविक गति से परिवर्तित होता रहेगा, परन्तु वर्तनी नहीं। यदि समयान्तर्गत वर्तनी के परिवर्तन पर अंकुश नहीं लगाया गया तो उसमें मनमानापन आता रहेगा। ऐसी स्थिति में भाषा में कभी भी स्थिरीकरण नहीं आ सकता। कोश इस कार्य में मददगार सिद्ध होता है।

स्वर जनित वैभिन्य

वैसे तो स्वर जनित वैभिन्य विश्वभर की समस्त भाषाओं में मिलता है, परन्तु पार्वत्य प्रदेशों, विशेषतः कुमाउँनी-गढ़वाली में यह विभिन्नता अपेक्षाकृत अधिक है। स्वरसंयोग, स्वरविपर्यय, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत स्वरों की पारस्परिक स्थानापन्नता इन दोनों भाषाओं में अधिक दिखाई देती है। प्रयत्नलाघव, उच्चारण-सौकर्य, बलाघात, क्षेत्रीय मोह आदि इसके मुख्य कारण हैं। यहाँ 'ढौळ', लहजा, लय, स्वर-भंगिमा, आरोह-अवरोह, तान, टोन, स्ट्रेस का प्रभाव प्रायः प्रत्येक शब्द पर लक्षित और श्रुत है। यहाँ की भाषाओं में गत्यात्मकता और गीतात्मकता अधिक हैं। वाल्टन ने गढ़वाली को स्कॉटलैंड की भाषा के

गढ़वाली-कुमाउँनी भाषाओं का मानकीकरण

समान संगीतमयी (sing song) बताया है। परिणामतः एक ही शब्द यहाँ कई उच्चरित और लिखित रूप धारण कर मानकीकरण-प्रक्रिया को अधिक जटिल बना देता है। प्रथमतः 'गढ़वाली' शब्द को ही लें। यह कई स्वरूपों में बोला और लिखा जाता है, यथा-गढ़वाली, गड़वाली, गढवलि, गढ़वळि, गडवळि, गडवाली आदि। इसी प्रकार कुमाउँनी को भी कुछ लोग कुमौनि, कुमाउँनी, कुमाउनी, कुमावुनी आदि कई रूपों में बोलते और लिखते हैं। आगे देखिए गढ़वाली संज्ञाओं में - 'घर' के लिए घर, घऽर, घार, घाऽर, घैर, घौर; रोटी के लिए रवटि, रोटि, रोऽटि, रवाटि, रवाट्टि, रूटि; 'माँ' के लिए बड़, बोड़, बोई, व्वे, व्वै आदि कई शब्दरूप मिलते हैं। सर्वनामों में-मि, मी, मै; मिन, मैन, मिल, मील (मैने); म्यार, म्यारू, म्यरू, म्यरों, मेऽरो, म्यारों (मेरा); क्रियाओं में धुण (धोना), धूण, ध्वीण, ध्वैण आदि अनेक रूप-भेद मिलते हैं।

गढ़वाली और कुमाउँनी वर्णमाला अधिकांशतः हिन्दी के ही समान हैं। परन्तु इनमें हिन्दी के अतिरिक्त कई पृथक ध्वनियाँ भी हैं। हिन्दी के 11 स्वरों के स्थान पर डॉ. गोविन्द चातक ने मध्य पहाड़ी में 24 स्वर ठहराए हैं। प्रथम स्वर 'अ' को ही लें। भाषा वैज्ञानिकों ने इस वर्ण के तीन मुख्य यथा-ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत एवं 18 अवांतर भेद निर्दिष्ट किए हैं। इन दोनों भाषाओं में ध्वनि का बहुत महत्त्व है। यह ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तक ही सीमित नहीं, बल्कि अति ह्रस्व, दुर्बल, फुसफुसाहट युक्त, उदासीन, वर्तुल, विवृत, अर्द्ध-विवृत, संवृत, अर्द्ध-संवृत, अति दीर्घ आदि कई रूपों में भी बोला और सुनाई देता है। गढ़वाली में दीर्घ-विलंबित 'अ' का अंकन अभी तक ऽ चिह्न (अवग्रह) द्वारा किया जाता रहा है। उदाहरणार्थ- बऽड़, डैऽर, कखऽ, घऽर, झऽल, जैन्दऽ। अति ह्रस्व उच्चारण जैसे 'औताअ् चुलि सौतअ् भलु' में द्रष्टव्य है। अति दुर्बल रूप- 'उ कखौअ् च'; 'त्यार नौनअ् ब्यौ कब होलो'; 'कै डाळाअ् छैल बैठिइ गीत छन् लगाणअ्' आदि में देखा जा सकता है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने गढ़वाली ध्वनियों का उच्चारण पूर्वी भाषाओं के समान अर्द्ध-संवृत बताया है। इसी प्रकार कुमाउँनी में ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के मध्य का भी एक भिन्न स्वर भी है जिसे 'ह्रस्व-दीर्घ' की संज्ञा दी गई है। आ, ए, ऐ तथा ओ स्वरों में यह ध्वनि लक्षित है। इस ह्रस्व-दीर्घ स्वर के अंकन रूप में अभी भी मत-वैभिन्य है। ह्रस्व ध्वनियों में कहीं-कहीं ह्रास भी दिखाई देता है। अंत्य इ तथा उ (अतिह्रस्व रूप) तो गढ़वाली में कई बार सुनाई तक नहीं देता, फुसफुसाहट

तक सीमित हो जाता है, जैसे- 'मैत में 'इ' त कंडाळि बि भलि में 'इ'।' 'जनान्यु दिख्युँ बाग अर बैखर् कुट्युँ घास' में 'उ' ध्वनि लगभग अश्रोतव्य है। यहाँ सामान्यतः दो या दो से अधिक स्वरों का संयोग पाया जाता है। कुछ क्षेत्रों में द्वि-स्वरों का पृथक उच्चारण है तो कहीं कहीं स्वर-मैत्री की भी प्रवृत्ति है, यथा- लोइ-ल्वे, लोहार-ल्वार।

मध्य पहाड़ी में अ-आ, इ-ई, उ-ऊ ह्रस्व और दीर्घ ध्वनियाँ परस्पर परिवर्तनीय हैं। किसी क्षेत्र में ह्रस्वत्व तो अन्यत्र दीर्घत्व की ओर झुकाव मिलता है। उ तथा ओ ध्वनियों में भी स्थानापन्नता है। गढ़वाली उ-ऊ, ए-ऐ, ओ-औ का उच्चारण क्रमशः वु-वू, अइ-आइ, वो-वावु (आवु) के रूप में भी सुनने को मिलेगा, जैसे - 'तइकि इलाजइ भलि चलाइ।' इसी क्रम में आइ स्वर संयोग से गढ़वाली में आ+ई=ऐ भी हो जाता है, जैसे- चढ़ाई=चढ़ै, कढ़ाई=कढ़ै, भराइ= भरए/इ य-ए ध्वनियाँ तो गढ़वाल के कई प्रखंडों में आपस में स्थानापन्न हो जाती हैं, यथा- इकुलकार/यकुलकार, इकत्या/यकत्या; इकुन्द/ यकुन्द; इथाँ/यथाँ; इन/यन। अर्द्ध स्वर य और व विकल्प रूप में अ, इ, एवं उ, ओ में परिवर्तनीय हैं। कहीं-कहीं मूल स्वरत्व के साथ-साथ संयुक्त स्वरत्व भी उच्चारण में वैभिन्य को जन्म देते हैं। मानकीकरण की दिशा में यहाँ एकरूपता लानी होगी।

विशेषक चिह्न (Diacritic Marks)

स्वरों में विभिन्नता और विशिष्टता को दर्शाने के लिए रोमन लिपि में निर्मित अधिकांश कोशों तथा साहित्य में विशेषक चिहनों (डिआक्रिटिक मार्क्स) का प्रयोग किया जाता है। सामान्यतः ये चिह्न वर्णों के ऊपर, नीचे अथवा शिरोरेखा के समीप गोलाकार, अर्ध-गोलाकार, अर्ध-चंद्राकार या बारीक, मोटी, आड़ी, तिरछी, सीधी, छोटी, बड़ी रेखाओं द्वारा दर्शाए जाते हैं। यूरोप की लगभग पन्द्रह भाषाओं की लिपि रोमन है, जिसमें मात्र पाँच स्वर वर्ण हैं, जिनमें विशेषक चिह्न लगाने का प्रावधान है। परन्तु लिखते समय इन चिहनों की अनुपस्थिति या अनवधानता से अथवा तनिक भी इधर-उधर लग जाने से बड़ी गड़बड़ी होने की सम्भावना बनी रहती है। गढ़वाली-कुमाउँनी भाषाओं के विभिन्न स्वर-रूपों को अपने मूल रूप में अक्षुण्ण या उसके आसपास रखना है तो उसका एकमात्र उपाय विशेषक चिहनों का, पारस्परिक विचार-विमर्श के पश्चात्, निर्धारण और

गढ़वाली-कुमाउँनी भाषाओं का मानकीकरण

धीरे-धीरे प्रयोग ही एकमात्र समाधान है। भाषा के हितार्थ इस पक्ष पर शनैः शनैः आम सहमति बनाना सभी साहित्यकारों का दायित्व बनता है। ज्ञात हो कि रोजमर्रा के प्रयोग में आने वाले कई अंग्रेज़ी या अन्य विदेशी भाषाओं के शब्द हिन्दी में घुलमिल गए हैं। उनमें आए रोमन लिपि के '0' वर्ण के लिए देवनागरी में संबंधित वर्ण की शिरोरखा के ऊपर अर्द्धचन्द्रकार चिह्न '◌' के प्रयोग को अब हिन्दी में सर्वमान्यता मिल गई है, यथा- ऑफिस, बॉल, हॉल आदि।

व्यंजन ध्वनियों में विविधता

स्वरों की भाँति, गढ़वाली और कुमाउँनी भाषाओं के व्यंजन वर्ण भी अधिकांशतः हिन्दी की ही तरह हैं। फिर भी कुछ स्थानीय भिन्नताएँ दीखती हैं। ज्ञातव्य है कि डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, डॉ. उदयनारायण तिवारी, डॉ. भोलाशंकर व्यास, डॉ. शेर सिंह बिष्ट तथा डॉ. गोविन्द चातक प्रभृति कई भाषाविद् गढ़वाली और कुमाउँनी को शौरसेनी से प्रसूत मानते हैं। शौरसेनी अपभ्रंश से ही ब्रजभाषा और कई अन्य भाषाएँ भी उद्भूत हुईं। ब्रजभाषा में न्ह, म्ह औ ल्ह स्वतंत्र महाप्राण व्यंजन ध्वनियाँ हैं। शौरसेनी के प्रभाव से ये ध्वनियाँ गढ़वाली और कुमाउँनी में भी आईं। मराठी में भी इनका प्रयोग होता है। वहाँ 'जिल्हाधिकारी' शब्द कई जगह नाम-पट्टी पर अंकित मिलेगा। राजस्थानी में इनका प्रयोग बहुलता से होता है, यथा-न्हांणें, म्हारे, ल्हसण आदि। यहाँ तक तो ठीक हैं परन्तु अति पुरातनप्रेमी और अतिशुद्धतावादी कुछ गढ़वाली लेखक च्ह (सच्चा), ज्ह (ज्हाँर), भ्ह (भ्हाँत), र्ह (र्हैण), व्ह (व्हैकि), स्ह (स्हैज, उत्स्था), दूह (पदूह) आदि सप्रयास प्रयोगों द्वारा, मानकीकरण की प्रक्रिया को अधिक उलझाकर आग में घी डालने का कार्य कर रहे हैं।

डॉ. रामेशचन्द्र महरोत्रा के अनुसार ल और लृ ध्वनियों का हिन्दी वर्णमाला से कोई वास्ता नहीं है। पहली मराठी की है और दूसरी तमिल और मलयालम की। परन्तु वे संभवतः भूल गए कि हिन्दी के उपांग राजस्थानी में यह वर्ण बहुलता से प्रयुक्त होता है। यह ध्वनि वस्तुतः वैदिक थी। ड के द्वारा इसका वैकल्पिक उच्चारण होता था। ल के स्थान पर ल तथा लृ ध्वनि का उक्षिप्त परिवेष्टित रूप गढ़वाली में बहुशः तथा कुमाउँनी में भी अंशतः, प्रचलित है। कुछ लेखक ल के नीचे बिन्दी लगाकर भी इस ध्वनि को निर्दिष्ट करते हैं। प्राकृत के प्रारम्भ से अपभ्रंश के विकास तक न को ण उच्चारित करने की

प्रवृत्ति रही हैं। गढ़वाली और कुमाउँनी, राजस्थानी की ही भाँति, 'णकार बहुला' है। गढ़वाली में यह प्रवृत्ति अधिक प्रबल है। 'न' वर्ण का 'ण' में बदल जाना इसमें अति सामान्य है। ढ तथा ढ ध्वनियाँ यहाँ अधिकांशतः अल्पप्राण ड तथा ङ में परिणत मिलती हैं। रेफ रूप में र संयुक्त व्यंजनों के साथ कहीं-कहीं अपना पूर्ण रूप ले लेता है, यथा-किरिया, करम, कारज, पराण, पवित्तर, सरग आदि। य और व ध्वनियाँ क्रमशः ज और ब में भी बदल जाती हैं। वैसे व और ब संस्कृत में भी वैकल्पिक रूप में स्वीकृत थे।

दोनों भाषाओं में स्वरों की भाँति व्यंजन वर्णों में भी विविधता का बोलबाला है। कुछ अल्पप्राण और महाप्राण ध्वनियाँ भी परस्पर परिवर्तनीय हैं, जैसे- गढ़वाली में कागुलु-कांघुलु, परोटि-परोठि, जरजरो - झरझरो, हाथ-हात, बाघ-बाग आदि। अघोष तथा सघोष ध्वनियाँ भी स्थानापन्न हो जाती हैं, यथा-बसकाळ-बसगाळ, अचकाल-अजकाल। हिन्दी वर्णमाला के प्रयोग के कारण हिन्दी भाषा संबंधी मानकीकरण की समस्याएँ कुमाउँनी-गढ़वाली में भी हैं। देवनागरी में अ, ख, झ, ण, ध, भ, ल, जैसे वर्णों को अंकित करने के लिए दो-दो लिपि चिह्न उपलब्ध है। हिन्दी के कई शब्दों के द्विधा रूप, जैसे-गरमी/गर्मी, गरदन/गर्दन, सरदी/सर्दी, वापिस/वापस की प्रविष्टियाँ कोशों में भी दी गई हैं। एक जीवन्त भाषा में इस प्रकार के कुछ अपवादों का होना अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। परन्तु गढ़वाली और कुमाउँनी में यह मनमानापन और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति कुछ अधिक ही दर्शनीय है, जिस पर कुछ सीमा के पश्चात् स्वयमेव संयम बरतना भाषा के हित में होगा।

विभक्तियाँ एवं परसर्ग

मध्य पहाड़ी में कारक विभक्तियाँ और परसर्गों का बाहुल्य है। प्रयोग करते समय ये दोनों मूल संज्ञा या सर्वनाम शब्द में जुड़ जाते हैं। गढ़वाली में कर्ता कारक में 'ने' के लिए प्रयुक्त 'न' और 'ल' का संयोग देखिए : वैन, वैल, वून, वैल; मिन, मिल, तिन, तीन, तैन, त्वैन, तिल, तैल; कैल; वैल आदि। कर्म कारक में का, कु, कै, कुण, खुण, सणी और करण कारक में न, ल, से, सी, ती तथा सम्प्रदान में क, कु, कै, तै, क्ते, ले, सणि, हणि, खुणि आदि है। षष्ठी के लिए रा, री, रो, का, कि, की, को आदि विभक्तियाँ हैं, परन्तु कुछ का प्रयोग कम होता है। षष्ठी के लिए सामान्यतः शब्दान्त में औ लगा कर

गढ़वाली-कुमाउँनी भाषाओं का मानकीकरण

सम्बन्ध दिखाया जाता है, जैसे- भाषौ (भाषा का), तखौ (तहाँ का); अपादान कारक में से, सी, ते, ती, बिठे, बिट प्रयुक्त होते हैं। अधिकरण कारक में-मा, मु, मंजे, तनै आदि हैं। इस प्रकार के विविध रूप शब्दों की अनेकता मानकीकरण की प्रक्रिया को जटिल बना देती है।

कहीं-कहीं विभक्ति तथा परसर्गों को व्यक्त करने के लिए अति ह्रस्व, लगभग न सुने जाने वाले शब्दान्त उदासीन स्वर जैसे- 'औतोअ धन अर दूसरैइ कज्याण' में 'अ' तथा 'इ' प्रयुक्त होते हैं। ये स्वर वास्तव में संबंध कारक, का, कि, को, के ही अश्रव्य रूप हैं। मानकीकरण के हितार्थ यदि इनके स्थान पर, मेरे विचार से गढ़वाली में 'औतोक् धन अर दूसरकि कज्याण' प्रयुक्त और मुद्रित हों तो श्रवण, वाचन तथा पाठन सभी सुविधाजनक और बोधगम्य होंगे। 'तु कखौ छै' के स्थान पर 'तु कखोक् छै' लिखें तो स्पष्टता अधिक आएगी। परन्तु अनेक परंपरानुरागी तथा अतिशुद्धतावादी विद्वान इसे व्याकरणिक नियमों में हेर-फेर मान कर उंगली उठाएँगे।

इसी प्रकार गढ़वाली के डर, डऽर, डार, डैर, डोर, डौर; चेला, च्यला, च्येला, च्याला; होला, हवोलो, ह्वालो, ह्वैला; बोल, व्वल, व्वाल आदि विभिन्न रूपों का सरलीकरण करते हुए इन उदाहरणों में से प्रथम शब्दरूप को मानक स्वीकारने से प्रचार-प्रसार में उत्पन्न बाधकता दूर होना संभव है। इससे भाषागत सम्पर्क बढ़ेगा। सरलीकरण के नाम से कुछ अतिशुद्धतावादी लेखक नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। इन भाषाओं को हिन्दी के करीब लाने का विरोध होता है। परन्तु हम भूलें नहीं कि हिन्दी समस्त उत्तराखंड में शिक्षा का माध्यम है। अतः हिन्दी के प्रति निकटता तथा समरूपता से कुमाउँनी-गढ़वाली के मानक स्वरूप के निर्धारण और विकास में सहायता मिलेगी। इससे किसी का विलुप्तीकरण नहीं, अपेक्षाकृत प्रसार-प्रचार बढ़ेगा। व्यापक स्तर पर भविष्य में दोनों भाषाओं को लाभ मिलेगा। परन्तु यहाँ पर मेरा आशय या संकेत हिन्दीकरण की ओर कदापि न समझा जाय। गढ़वाली और कुमाउँनी हिन्दी या उसकी उपभाषा नहीं हैं और न होंगी। इनकी स्वतंत्र अस्मिता और अलग-अलग पहचान और स्वरूप को अक्षुण्ण रखना प्रत्येक साहित्यकार का उद्देश्य और प्रयास होना चाहिए। इसे क्षेत्रीयता की भावना न समझा जाय। हम तो मध्य पहाड़ी की अपार शब्द-संपदा को हिन्दी के द्वार तक लाना चाहते हैं।

क्रियापद

सहायक क्रिया के रूप में अस्तित्ववाची वर्तमान कालिक 'छ' (है) का प्रयोग दोनों भाषाओं में मिलता है। गढ़वाली में सहायक क्रिया 'च' वर्तमानकाल में च, छ, चा, छा, छँ तथा भूतकाल के लिए छौ, थौ (द्रष्टव्य ब्रजभाषा हुतो) आदि कई रूपों में प्रयुक्त होती है। कुछ मुख्य क्रियाएँ हिन्दी मूल की भी हैं। हार्नले ने हिन्दी की 400 से अधिक धातुओं का संकलन किया जिनमें से कुछ मध्य पहाड़ी में भी कुछ अन्तर के साथ मिलती हैं। मध्यकालीन आर्य भाषा से भी कई क्रियाएँ उत्तराखंड क्षेत्र में पहुँची। इसके अतिरिक्त यहाँ देशज या स्थानीय धातुएँ भी प्रचुरता से मिलती हैं। बहुसंख्य क्रियापद तो राजस्थानी की भाँति, सामान्यतः उकारान्त एवं ओकारान्त दोनों रूपों में चलते हैं, यथा-हरचणु/हरचणों; तचण/तचणों; बिलकणु/बिलकणों। हम पूर्व में बता चुके हैं कि गढ़वाली में 'ण' तथा 'न' परस्पर परिवर्तनीय हैं। इसीलिए क्रियाओं में कहीं 'ण' द्वित्व न्न में भी प्रयुक्त होता है- करणो/करणु/कनु; बोलणो/बोलणु, ब्वलुणु/ब्वलुणु/ब्वनु। जयलाल वर्मा और मालचन्द रमोला ने अपने गढ़वाली कोशों में क्रियाओं को उ, ऊ, दोनों रूपों - णु, णों में रखा है। वस्तुतः देखा जाय तो उ, ओ रखने से इनका अर्थ 'रहा' में द्योतित होता है। मि खाणु छँ का अर्थ है- मैं खा रहा हूँ। उ पढ़णू च- वह पढ़ रहा है। संज्ञार्थक क्रियाओं के अकारान्त रूप, यथा- हरचण, तचण, बिलकण, करण, बोलण आदि मानक वर्तनी के रूप में अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध और पूर्ण अर्थ देगा। इससे वक्ता का आशय भी स्पष्ट होगा। मेरे इस सुझाव पर विशेष ध्यान अपेक्षित है। कुमाउँनी में क्रियाओं का अकारान्त रूप अब अधिक प्रचलित और मान्य है।

उपर्युक्त प्रस्ताव व्याकरण का विषय है, जिस पर अन्य वैयाकरणों तथा भाषाविदों की सलाह से अन्तिम निर्णय होना श्रेयस्कर रहेगा। व्याकरणिक रूपों को अनेकता में एकता के आधार पर मानक बनाया जाता है। यथासम्भव वर्तनी की एकरूपता के हित में कहीं न कहीं इस प्रकार के व्यावहारिक निर्णय तो लेने ही पड़ेगे। समान प्रयोग, प्रयत्न, व्यवहार और नियमबद्धता से दोनों भाषाओं को स्थायित्व मिलेगा। वर्तनी का मानकीकरण तो समय की माँग है। रूपात्मक एकीकरण उसका प्रथम सोपान है। इसे हम नकार नहीं सकते।

गढ़वाली-कुमाउँनी भाषाओं का मानकीकरण

संज्ञा पदों में उकार/ओकार

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में हिम प्रदेश की भाषाओं को उकार बहुल बताया है (उकार बहुलां, तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत्)। कई क्षेत्रों में क्रियापदों के अतिरिक्त संज्ञा व विशेषण पदों में भी उकार को ओकार रूप में भी उच्चरित किया जाता है - कोदु/कोदो/क्वादो; ठंडु/ठंडो; भलु/भलो; भैंसु/भैसो आदि। व्यक्ति वाचक संज्ञाओं के संक्षिप्तीकरण के लिए भी उकार का आश्रय लिया जाता है- यथा- मंगलु, सत्तु, असाडु, रामु, मुकुन्दु, दत्तु, लल्लु आदि। कुमाउँनी के भाषाई क्षेत्र पूर्वी और पश्चिमी भूभाग में की बोलियों में उच्चारणगत वैविध्य मिलता है। पश्चिमी कुमाउँनी के अकारान्त शब्द पूर्वी कुमाउँनी की कुछ बोलियों में ओकारान्त हो जाते हैं, परन्तु अब उनमें भी अकारान्तता को प्राथमिकता देने का प्रचलन है, यथा- कान्शो, काट्टों, चेला, मेरो के स्थान पर क्रमशः कान्श, काट, च्यल, म्यर का प्रयोग मानक समझा जा रहा है। गढ़वाली में भी मानकीकरण की दृष्टि से इस पर विचार किया जा सकता है।

अनुस्वार, शिरोबिन्दु/बिंदी तथा अनुनासिकता चिह्न चंद्रबिंदु

आचार्य राजशेखर ने उत्तरापथ निवासियों को 'सानुनासिक भाषिणः' बताया है। कुमाउँनी में यह प्रवृत्ति अधिक दृष्टिगोचर होती है। गढ़वाली क्षेत्र के कुछ भागों में भी इसके लक्षण मिलते हैं। यह सानुनासिकता तीन वर्गों में विवेचित की जाती है - 1. अनुस्वार-शिरोबिन्दु या केवल बिन्दी, 2. चंद्र बिन्दु 3. पंचमाक्षर नासिक्य व्यंजन। इनके प्रयोग विषयक व्यतिरेकों की गढ़वाली में भरमार है। उदाहरणार्थ संबंधि, संबन्धि, सम्बंधि, सम्बन्धि; अँग्वाळ, अग्वाळ; नाँगा, नागा, नांगा; हँसुणु, हसुणु, हँसुणुं, ताँबा, तांबा, ताम्बा; बाँधुणु, बान्धुणु आदि सभी रूप धड़ल्ले से चल रहे हैं। कुमाउँनी में ङ तथा ज ध्वनियाँ अभी भी सुरक्षित हैं, भले ही उनका प्रयोग कम हो। गढ़वाल क्षेत्र के कुछ प्रभागों में इन्हें गँ तथा यँ के रूप में भी उच्चरित किया जाता है। ण कहीं-कहीं ङँ तथा ज भी यँ की तरह सुनाई देता है। ङ तथा ण वर्ण किसी शब्द के प्रारम्भ में प्रयुक्त नहीं होता। पद के आदि या अन्त में पंचमाक्षर नासिक्य व्यंजन या पदान्त में आने वाले वर्ण या ङ ध्वनि का कहीं-कहीं सानुनासिक उच्चारण होता है यथा-नाँना, दाँणू आदि। संपर्कज या दीर्घ ध्वनि के साथ सानुनासिकता के उदाहरण अधिक मिलते हैं। यथा-काँडुलु, पराँण, गूँणी, पाँणी, माँमा आदि।

हम पूर्व में बता चुके हैं कि हर क्षेत्र के प्रत्येक उच्चारण को मानक रूप में स्वीकार्यता न तो सम्भव होगी, न औचित्यपूर्ण। उनमें एक को ही मानक समझना अधिक तर्कसंगत होगा। कहीं-कहीं बहु-प्रयोग के आधार पर वैकल्पिक एक या दो अन्य रूप भी कोशों में समाविष्ट होते रहे हैं। हलन्त शब्द धीरे-धीरे अब हल् रहित हो रहे हैं।

ध्यातव्य है कि अनुस्वार व्यंजन हैं और अनुनासिकता स्वर का नासिक्य विकार। कई स्थलों पर यह अर्थभेदक भी होता है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि अनुस्वार (ँ) स्वर के बाद उच्चरित होने वाला नासिक्य व्यंजन है और चंद्र बिन्दु (ँ) स्वर के साथ बोली जाने वाली अनुनासिकता। इस ऊहापोह से बचने तथा लेखन-मुद्रण की सुविधा एवं एकरूपता के लिए यदि हम हिन्दी की ही भाँति बिन्दी (ँ) (अनुस्वार) का प्रयोग करें तो यह उचित होगा। इसी प्रकार पंचम वर्ण के बाद यदि सवर्गीय शेष चार वर्णों में से कोई वर्ण आए तो वहाँ भी हिन्दी की तरह अनुस्वार का प्रयोग उचित रहेगा, जैसे कंकण, गंगा, ठंडु, मंदिर, संपादक, संबंध, प्रबंध आदि। इससे सुविधा और सरलता आएगी और समय बचेगा। हलन्त का प्रयोग संयुक्ताक्षरों के लिए उचित है। विसर्ग तो अब केवल संस्कृत के तत्सम शब्दों में ही रह गया है, गढ़वाली में तो यह पहले से ही लुप्त था।

आगत शब्दों की वर्तनी

मध्य पहाड़ी में विदेशी शब्द मुसलमानों और अंग्रेजों के प्रभाव से आए। भले ही गढ़वाल और कुमाउँ क्षेत्र पर मुसलमानों का शासन कभी नहीं रहा, परन्तु दिल्ली दरबार से इनका सम्पर्क था। फिर कोर्ट-कचहरियों में ब्रिटिश शासन काल में उर्दू का प्रयोग होता था। ऐसे शब्द अब इन भाषाओं में घुलमिल गए हैं। इनमें से अधिकांश में ध्वनि परिवर्तन भी आ गया है, यथा – अदावट (अदावट), खिजमत (खिदमत), दसकत (दस्तखत), मतबल (मतलब), सिरफ (सिर्फ) आदि। असंख्य अरबी-फारसी के शब्द अब मध्य पहाड़ी ने आत्मसात् कर लिए हैं।

अरबी-फारसी की मुख्यतः पाँच ध्वनियाँ क, ख, ग, ज़ और फ़ हिन्दी के माध्यम से मध्य पहाड़ी में भी आई हैं। इनमें प्रयुक्त नुक्ते का विशेष महत्त्व है जिसके लगाने या न लगाने से बड़े अनर्थ की संभावना बनी रहती है।

गढ़वाली-कुमाउँनी भाषाओं का मानकीकरण

इन ध्वनियों में से क, ख, और ग का तो हिन्दी में बिना नुक्ते के प्रयुक्त होने लगा है, परन्तु ज़ तथा फ़ अपने नुक्ते को सही सलामत रखने के लिए अभी भी संघर्षरत हैं। गढ़वाली में तो प्रारंभ से ही नुक्ता अपना अस्तित्व खो बैठा था।

अंग्रेज़ी के अनेक शब्द, जैसे-अफसर, असपताल, असिस्टेंट (असिस्टेंट), इसकूल, कोट, पैंट, कोरट (कोर्ट), गिलास, गैस, जेल, डरैबर (ड्राइवर) नोट, पलटन, फोटू, मोटर, रासण, सिगरेट, होटल आदि अनेक शब्द उच्चारण और तदनुसार वर्तनी में स्वीकृत हो चुके हैं।

समाधान और सुझाव

वर्तनी के मानक रूप का निर्धारण एक लंबी और सतत प्रक्रिया है। उसका सबसे बड़ा संबंध सामाजिक स्वीकार्यता से भी है। प्रारंभ में असहमति और विरोधी स्वर उठते रहेंगे। हिन्दी का ही उदाहरण लेते हैं। सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चंद्र तथा उनके सहयोगियों ने वर्तनी तथा लिपि में सुधार के क्षेत्र में प्रशंसनीय पहल की। पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सरस्वती के संपादन का कार्यभार सँभालते (सन् 1903) ही वर्तनी में सुधार की दिशा में गति आई। हिन्दीशब्दसागर निर्मित करते समय इसके संपादक मंडल के सुविख्यात विद्वानों के गहन परामर्श के पश्चात् प्रत्येक शब्द की मानक वर्तनी को दोष-रहित बनाने के लिए कई सार्थक सुझाव प्रस्तुत किए गए। संविधान द्वारा हिन्दी को राजभाषा का दर्जा दिए जाने के उपरान्त एतदर्थ गठित शीर्ष विद्वानों की समिति ने अपनी संस्तुतियाँ दी। सन् 1967 में केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने 'हिन्दी वर्तनी का मानकीकरण' शीर्षक पुस्तिका प्रकाशित की। इन भगीरथ प्रयासों के बावजूद हिन्दी वर्तनी का सर्वग्राह्य स्वरूप अभी तक नहीं बन पाया है।

मध्य महाड़ी में स्वर-वर्णों की स्थानापन्नता, ह्रस्व-दीर्घ का परस्पर विनिमय, दो या दो से अधिक स्वरों के संयोग अथवा विपर्यय आदि के प्रति आकर्षण अधिक है। व्यंजनों में संयुक्ताक्षरों के प्रति अत्यधिक मोह है। अब वैश्वीकरण तथा सूचना प्रौद्योगिकी का युग है। टाइपराइटर, कम्प्यूटर, छपाई मशीन, आधुनिक उपकरण, कुंजीपटल, फॉन्ट, वर्तनी-जाँच (स्पेल चैक) आदि का सर्वत्र प्रयोग हो रहा है। हम इससे विलग नहीं हो सकते। विकास-क्रम में एक न एक दिन कुमाउँनी और गढ़वाली को इन्हें अपना ही होगा। ध्यातव्य है कि गतिशील भाषा ही जीवन्त होती है। विकास जीवन्त भाषा का ही

होता है। रूढ़ भाषा तो मृतप्राय होगी। हम अपनी मातृ भाषाओं को लुप्त नहीं होने देंगे। मानकीकरण की दिशा में सुझाव और समाधान ढूँढते समय सर्वप्रथम इनकी अंतःप्रकृति, प्रवृत्ति, आत्मा और स्वरूप को समग्रता से पहचानकर उसके मूल रूप को सुरक्षित रखते हुए ही वर्तनी में अत्यावश्यक शोधन और परिष्करण करना इन भाषाओं की प्राथमिकता होनी चाहिए।

प्रकाशित सामग्री में अंकित वर्तनी को वरीयता मिलनी चाहिए। उपलब्ध शब्दावली में से लेखन, वाचन, पठन, पाठन, टंकण और मुद्रण की दृष्टि से सुविधाजनक एवं सभी प्रचलित, उपयोगी, अधिग्राह्य, परिनिष्ठित, सरल, व्याकरणसम्मत एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सभी प्रकार के भाव-विचारों को अभिव्यक्त करने की क्षमता वाले रूपों को मानक स्वीकारना समय की माँग है। हमें सिद्ध करना होगा कि कुमाउँनी-गढ़वाली भाषाएँ मात्र ग्रामीण बोलियाँ नहीं हैं। इनमें नवशब्दनिर्माण की अपार संभावनाएँ हैं। इनका हाज़मा सशक्त है। एतदर्थ उपर्युक्त मापदंडों को आधार मानते हुए अत्यधिक संयुक्ताक्षरों के स्थान पर वियुक्तीकरण तथा सरलीकरण को प्राथमिकता देना औचित्यपूर्ण लगता है। मैं समझता हूँ कि कुछ पढ़ने या लिखने में अति क्लिष्ट गढ़वाली शब्द जैसे- भौत, ल्हीगिय, ल्हज्येकिय, हम्हरो, व्होल्वों के स्थान पर यदि क्रमशः भौत, लीगि, लिजैकि, हमारा/हमारू, होलो, लिखे जायें ता इनको गढ़वाली मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इनमें गढ़वाली का मूल स्वरूप यथावत् है। पुरातनप्रेमी तथा रूढ़िवादी विचारधारा से ग्रस्त तथा क्षेत्रवाद के प्रति अति मोह दर्शाने वाले कुछ लेखकों को यह सुझाव कहाँ तक मान्य होगा, यह भविष्य ही बताएगा।

डॉ. दिनेश गुप्त ने किसी भाषा के मानक रूप ग्रहण कर लेने के सात आधार बताए हैं - 1. स्वायत्तता, 2. केन्द्रोन्मुखता, 3. प्रयोगशीलता, 4. सहजता और सुबोधता, 5. व्याकरणिक नियमों की समानता, 6. एकरूपता और 7. जीवन्तता।

यहाँ केन्द्रोन्मुखता पर विस्तार से चर्चा कर लें।

मानकीकरण के लिए सर्वमान्य प्रथम सोपान यह है कि अपने क्षेत्र और उसके आसपास की सभी बोलियों में से अतिप्रचलित तथा अधिसंख्य जनसमुदाय में व्यवहृत और केन्द्रस्थ बोली को आदर्श मानते हुए समन्वय, समुच्चय और सामंजस्य की भावना से दूध-पानी के समान घुला-मिलाकर उदारतापूर्वक उसका व्यावहारिक परिष्करण किया जाय। यह भी देखना होता है

गढ़वाली-कुमाउँनी भाषाओं का मानकीकरण

कि कौनसी बोली में सर्वाधिक लिखित, परिनिष्ठित और मुद्रित साहित्य उपलब्ध है। इसी बोली को आधार मानकर निकटवर्ती और सहवर्तिनी बोलियों के शब्द, अभिव्यक्ति, प्रयोग तथा सप्रेषणशक्ति को आत्मसात करने के पश्चात् उसे ही मानक मान लिया जाता है। विश्वभर की समुन्नत भाषाओं ने यही प्रक्रिया अपनाई। अंग्रेज़ी का भी यही इतिहास रहा है। ग्यारहवीं शती से पंद्रहवीं शती के बीच विकसित होने वाली 'नार्मन' और 'सेक्सन' भाषाओं के मिश्रण से विकसित होने वाली 'मिडिल इंग्लिश' अर्थात् मध्य अंग्रेज़ी का परिनिष्ठित रूप ही आज की अंग्रेज़ी है। इसमें एंगल्स, सेक्सन, जूट आदि कई जातियों द्वारा व्यवहृत बोली-भाषाओं का मिश्रण है। शब्दावाली और ढाँचा मूलतः जर्मन बोलियों तथा रोमन-ग्रीक से लिया गया। सामान्यतः किसी भी देश के मध्य भाग में प्रयुक्त बोली ही कालान्तर में उस प्रदेश की सर्वमान्य भाषा बन जाती है। मूल बोलियाँ भी अपना अस्तित्व बनाए रखती हैं।

किसी भाषा को मानक बनाने में राजनीतिक परिस्थितियाँ विशेष रूप से सहायक रहती हैं। खिलजी सुल्तानों का शासन दक्षिण पहुँचने पर वहाँ की भाषा 'दक्खिनी' के रूप में समृद्ध हुई। बाद में जब अंग्रेज़ों ने कलकत्ता को व्यापार और फिर शासन का केन्द्र बनाया और सन् 1800 में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की तो मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्ला खाँ, लल्लूलाल, सदल मिश्र, राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द एवं राजा लक्ष्मण सिंह आदि ने अपने-अपने तरीके और साहित्य से हिन्दी का परिष्करण और परिमार्जन किया। फिर दिल्ली राजधानी बनी तो भारत के उत्तर मध्यवर्ती समस्त क्षेत्र की लगभग 45 भाषा-बोलियों के सम्मिश्रण-समन्वय से दिल्ली, मेरठ, बुलन्दशहर, हरियाणा, पूर्वी राजस्थान आदि मध्यवर्ती क्षेत्र में व्यवहृत बोलियों से हिन्दी को वर्तमान स्वरूप दिया गया।

उपर्युक्त दृष्टि से देखा जाय तो गढ़वाल क्षेत्र के केन्द्र में स्थित टिहरी, श्रीनगर, पौड़ी सदैव ही शासन के केन्द्र बिन्दु या राजधानी रहे हैं। यही स्थिति कुमाउँनी की रही। खसपर्जिया बोली अल्मोड़ा के समीपस्थ क्षेत्रों के साहित्यकारों की भाषा रही है। अतः खसपर्जिया (खास प्रजा द्वारा व्यवहृत भाषा) को आधार मानकर तथा उसमें अन्य प्रखंडों की शब्दावली और शैली को समाहित करने के पश्चात् आवश्यक परिष्करण करते हुए उसे मानक मानने के लिए बहुशः मूर्धन्य विद्वानों ने सहमति जताई है। अतः इसे मानक रूप में स्वीकृति

के प्रति कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। बहुसंख्य भाषाविद् इसे ही कुमाउँनी की मानक भाषा स्वीकृत करने के पक्षधर हैं।

इसी प्रकार गढ़वाली के संदर्भ में श्रीनगरी बोली के रूप-भेद, संरचना, व्याकरणिक प्रयोगों को केन्द्र बनाकर अन्य सभी प्रखंडों की प्रचलित, उपयोगी और व्यंजक शब्दावली के सुबोध और अधिमान्य रूप को आमेलित करते हुए इसे मानक दर्जा देने का प्रस्ताव स्वागत योग्य है। श्रीनगरी में ही गढ़वाली का अधिकांश साहित्य रचा गया। इसी बोली को मानक समझकर अन्य प्रमुख बोलियों के सर्व प्रचलित अन्य मुख्य वैकल्पिक रूपों को भी फिलहाल स्वीकृत किया जाना चाहिए। श्रीनगरी और सलाणी का विवाद व्यर्थ होगा। दूरस्थ और सीमित इलाकों में बोली जाने वाली या अति क्लिष्ट, दुरूह तथा अतिज्ञान दर्शित करने के मोहवश ढूँढ-ढूँढ कर जबर्दस्ती ढूँसी गई शब्दावली और उनके रूपों को बढ़ावा या प्रश्रय देना और उन पर अड़े रहना मानकीकरण की दृष्टि से हितकर नहीं होगा। इस प्रकार की बहिर्मुखी, द्वन्द्वात्मक या केन्द्रावगामी प्रवृत्ति भाषा के विकास में बाधक होगी। इस प्रवृत्ति से गढ़वाली भाषा तितर-बितर कर टूट जाएगी। हम समस्या का समाधान निकालें। उसे सुलझाएँ, उलझाएँ नहीं। हम कदापि न भूलें कि प्रत्येक भाषा की अस्मिता की रक्षा और पहचान उसके व्यापक प्रयोग और लगातार व्यवहार से ही सम्भव है। शब्दकोश उसे प्रामाणिकता और स्थायित्व दे सकता है। इस दिशा में दोनों भाषाओं के युवा लेखकों पर बहुत बड़ा दायित्व होगा।

अन्त में प्रसंगतः बताना चाहूँगा कि हिन्दी वर्तनी के मानकीकरण की दिशा में सर्वप्रथम गंभीर प्रयास हिन्दीशब्दसागर द्वारा ही प्रतिपादित किया गया था। फिर भी कीर्तिमान स्थापित करने वाले इस महत् कोश के प्रधान संपादक, सहयोगियों के सौहार्दपूर्ण उलाहने के उपरान्त भी, अपने नाम में अनुस्वार के स्थान पर पंचमाक्षर को प्रयुक्त करते हुए 'डॉ. श्यामसुन्दर दास' ही लिखते रहे। उन्होंने अपने नाम को 'सुंदर' नहीं बनने दिया।

पुरानी आदत छूटना आसान नहीं है!



उत्तराखण्ड की भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि की उपयुक्तता

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि उत्तराखण्ड की दो प्रमुख पड़ोसी भाषाएँ – गढ़वाली और कुमाउँनी, हिन्दी की ही उपभाषा, विभाषा या बोलियाँ हैं। अन्य का कहना है कि अनेकरूपता से भरपूर इन दोनों भाषाओं की कोई मानक वर्तनी नहीं है। ये तो कई बोलियों का संग्रह मात्र हैं, जिनमें स्थल-स्थल पर औच्चारणिक वैभिन्न्य है। यह भी कहा जाता है कि देवनागरी लिपि इन भाषाओं की विशिष्ट ध्वनियों को सही रूप से अंकित और व्यक्त करने में अक्षम और अपूर्ण है। इसलिए इनके लिए एक अलग लिपि होनी चाहिए। जौनसारी भाषा को भी गढ़वाली से भिन्न घोषित करते हुए इसके बारे में यही प्रचार किया जाता रहा है।

ध्वनि, वर्ण, अक्षर, भाषा और लिपि

भावों की अभिव्यक्ति तथा विचारों के आदान-प्रदान के सार्थक ध्वनि-समूह को 'भाषा' का नाम दिया जाता है। भाषा की मूल ध्वनियों को 'वर्ण' कहा गया है। तदनुसार 'स्वर' और हलन्त युक्त 'व्यंजन' दोनों वर्ण हैं। 'अक्षर' में एक या अनेक वर्ण रहते हैं और 'शब्द' में एक या अनेक अक्षर। भाषा को अंकित करने के लिए व्यवस्थित चिह्नों को 'लिपि' की संज्ञा दी गई है। भाषा ध्वनियों का निर्धारित विधान है और लिपि वर्णों की संयोजना। भाव लिपि के बिना भी व्यक्त किए जा सकते हैं। वर्तमान में भी अधिसंख्य व्यक्ति लिपि से अपरिचित रहते हैं, फिर भी वे किसी न किसी भाषा के माध्यम से अपने भाव-विचार व्यक्त तो करते ही हैं। भाषा केवल उच्चरित या मौखिक भी हो सकती है, जबकि लिपि पूर्णतः अंकित एवं द्रष्ट। भाषा का दृश्य रूप लिपि है। लिपि भाषा का शरीर या उस शरीर का आवरण है। भाषा और लिपि का अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है। पुराकाल से ही लिपि के माध्यम से भाषा में निबद्ध भाव एवं विचार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचते रहे। उन्हें एक

स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने में भी लिपि का ही आश्रय लिया जाता है। सभ्यता का विकास तथा संस्कृति का अनुरक्षण एवं स्थायित्व लिपि के बिना सम्भव नहीं। लिपि रहित भाषा की कल्पना अपूर्ण है। शिक्षित या सुसंस्कृत व्यक्ति वही माना जाएगा, जिसे लिपि का ज्ञान हो।

भारत की लिपियाँ और देवनागरी का विकास

लिपि के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में विद्वानों में मत-वैभिन्य है। भारत एक बहुभाषी देश है। एक सर्वेक्षण के अनुसार यहाँ लगभग 325 भाषाएँ एवं 400 बोलियाँ प्रयोग में हैं। प्रायः यही अभिमत है कि लिपि का व्यवस्थित रूप लगभग 5000 वर्ष पूर्व सामने आ गया था। बौद्ध-धर्म ग्रंथ 'ललित विस्तर' (रचनाकाल 200 ई.पू.) में 64 लिपियों का उल्लेख मिलता है। कालान्तर में रचित ग्रंथों में निम्न 11 लिपियों का प्रचलन बताया गया है - 1. चित्र लिपि, 2. सूत्र लिपि, 3. प्रतीकात्मक लिपि, 4. भावमूलक लिपि, 5. फन्नी लिपि, 6. गढ़ाक्षरिक लिपि, 7. क्रीट लिपि, 8. हिट्टाइप लिपि, 9. सिन्धु घाटी की लिपि, 10. चीनी लिपि, 11. ध्वनि मूलक लिपि। अन्तिम ध्वनिमूलक लिपि को छोड़कर अन्य सभी लिपियों में चिहनों या चित्रों की प्रधानता थी। ध्वनिमूलक लिपि के पुनः दो भेद किए गए हैं - अक्षरात्मक तथा वर्णात्मक। देवनागरी अक्षरात्मक है तो रोमन लिपि वर्णात्मक।

प्राचीन शिलालेखों तथा सिक्कों में तीन भारतीय लिपियों का अंकन मिलता है - सैन्धव (सिन्धु घाटी की), ब्राह्मी और खरोष्ठी। ब्राह्मी पुनः दो शैलियों में विकसित हुई - उत्तरी और दक्षिणी। उत्तरी शैली में गुप्त, कुटिल, शारदा और प्राचीन नागरी आती हैं तथा दक्षिणी शैली में पश्चिमी, मध्य देशी, तेलगु, कन्नड़, तमिल, मलयालम, कलिंग आदि लिपियाँ गिनाई जाती हैं। उत्तरी शैली की कुटिल या सिद्धमातृका से 9वीं शती के आसपास 'नागरी' और तदनन्तर 'देवनागरी' का विकास हुआ। 'देवनागरी' के नामकरण पर भी मतैक्य नहीं है। डॉ. बासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार इसका सूत्र पाटलीपुत्र 'नगर' से उद्भूत हुआ, जिसमें मौर्य वंशीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का निजी नाम 'देव' जुड़ गया। एक अन्य मतानुसार गुजरात के नागर ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त होने से इसे 'नागरी' लिपि कहा गया। यह भी कहा जाता है कि

उत्तराखण्ड की भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि की उपयुक्तता

‘देवनागर’ अर्थात् काशी में प्रचार के कारण यह देवनागरी कहलाई। आचार्य विनोबा प्रभृति कुछ अन्य विभूतियों को इसे केवल ‘नागरी’ कहना अधिक रुचिकर लगता था। स्पष्टतः देवनागरी का विकास ब्राह्मी लिपि से हुआ। ब्राह्मी मूल की होने के फलस्वरूप समस्त भारतीय लिपियाँ परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इसीलिए डॉ. सुनीति कुमार चैटर्जी देवनागरी को अन्य प्रान्तीय लिपियों से सहोदर या चचेरी बहनों का सम्बन्ध मानते हैं। लिपि के क्रमगत विकास की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं – चित्रात्मक, भावात्मक, वर्णात्मक और अक्षरात्मक। देवनागरी लिपि विकास की अन्तिम अवस्था अर्थात् अक्षरात्मक स्थिति में है। इसकी विशिष्टता यह है कि इसमें प्रयुक्त प्रत्येक वर्ण एक अक्षर और ध्वनि घोषित करता है। अन्य लिपियों में यह व्यवस्था अपेक्षाकृत कम है जैसे कि आगे के तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा।

अन्य प्रमुख लिपियों में सभी ध्वनियों को अंकित करने की अक्षमता

वाणिज्य, व्यापार, ज्ञान-विज्ञान, सूचना प्रौद्योगिकी के लिए सर्वाधिक प्रयोग में लाई जाने वाली तथा ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, लगभग समस्त यूरोप तथा कई अन्य देशों की लिपि रोमन में आज भी वही 26 वर्ण है जबकि देवनागरी में इसके दुगने अर्थात् 52 वर्ण हैं। महाप्राण ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए रोमन में अल्पप्राण के साथ h लगाना पड़ता है जैसे ख kh, छ chh, थ th आदि। दीर्घ, प्लुत या संयुक्त ध्वनियों के लिए इसमें कोई वर्ण निश्चित नहीं है। इसी प्रकार ‘ट’ वर्ग के वर्णों तथा सानुनासिक व्यंजनों यथा ङ, ज, ‘ण’ के लिए भी रोमन में कोई ध्वनि संकेत नहीं है। यही अक्षमता फ़ारसी, अरबी, उर्दू आदि भाषाओं के लिए प्रयुक्त नस्तालीक लिपि में भी है।

लिपि चिह्नों की न्यूनता या अधिकता

देवनागरी के अतिरिक्त कई अन्य लिपियों में या तो कहीं अनेक ध्वनियों के लिए लिपि चिह्न नहीं हैं अथवा अन्यत्र उसी ध्वनि के लिए एक या एक से अधिक लिपि संकेतों का प्रयोग होता है। रोमन में ‘क’ ध्वनि के लिए पाँच वर्ण हैं – ‘c’ (cash, cut), ‘k’ (kill, kite), ‘Q’ (queen, quick),

'ch' (christ, character), 'ck' (clock, cuckoo), 'c' कही 'स' के रूप में (circus, cinema) उच्चरित होता है, तो अन्यत्र 'क' (captain, cadet) के रूप में। रोमन लिपि में एक वर्ण को एक निश्चित स्वनिक मूल्य नहीं दिया गया है। फ्रांसिसी भाषा के औच्चारणिक रूप और लिपि की पारस्परिक समानता भ्रमपूर्ण हैं। रोम्याँ रोल्ल्याँ, मितराँ, ज्याँ, रेस्तराँ, रेनासाँ आदि को स्प्यलिंग के अनुसार रोमेंड, रोलेंड मिटरेंड, जॉन, रेस्टोरेंट, रेनीसेंस पढ़ा जाएगा। हंगरी प्रवास के दौरान परिचय देते समय मेरे सरनेम 'जखमोला' को 'यखमोला' के रूप में उच्चरित किया जाता था, क्योंकि वहाँ 'जे' का उच्चारण 'य' के रूप में होता है। लिपि और उच्चारण के कुछ अन्य व्यतिक्रम देखिए- दूप्ले (Duplex), दांती खोते (Don Quxote), म्याँमा (Myamar), गेटे (Goeth) आदि। निश्चिततः कहा जा सकता है कि रोमन में प्रत्येक ध्वनि को सही ढंग से अंकित करने की क्षमता नहीं है। लिप्यंतरण और प्रतिलेखन के लिए तो कतई नहीं। परन्तु देवनागरी लिपि की ध्वनियों में ऐसी कोई भ्रमपूर्ण स्थिति नहीं है। इसमें यदि 'प' लिखा जाएगा तो उसे 'प' ही पढ़ा जाएगा। प्रत्येक शब्द को उसके पूर्व ज्ञान के बिना भी उच्चरित किया जा सकता है। यहाँ लिपि और ध्वनि में पूरा सामंजस्य है।

फ़ारसी, अरबी, उर्दू आदि भाषाओं के लिए प्रयुक्त नस्ता'लीक लिपि में 'ज' ध्वनि के लिए छह; 'स' के लिए तीन तथा 'अ', 'क', 'ग', 'त' एवं 'ह' के लिए दो-दो वर्ण हैं। तशदुद (संयुक्ताक्षरों) के लिए कोई स्पष्ट व्यवस्था नहीं है। कई वर्णों को हलक से निकाल कर उच्चरित करना होता है जो नव सिखिए के लिए आसान नहीं है। यहाँ भी रोमन की ही भाँति ट् वर्ग की समस्त ध्वनियों तथा सभी महाप्राण ध्वनियाँ ख, घ, छ, घ, ठ, ढ, ध, भ एवं पंचमाक्षर अनुनासिक व्यंजन ड, ज, ण और स्वरो के लिए पृथक प्रावधान नहीं हैं। उर्दू अब देवनागरी में भी लिपिबद्ध की जाती है, जिसमें ज के नीचे बिन्दी देकर ज़ बना दिया जाता है, जिससे जे, ज़ाल, ज़्वाद, ज़ोय का काम ले लिया जाता है। परन्तु बिन्दी के प्रयोग में बड़ी सावधानी बरतनी होती है। अरबी के 'जलील' (प्रतिष्ठित, महान्, मान्य) में अनवधानता ज के नीचे यदि बिन्दी लगाकर 'ज़लील' (भ्रष्ट, अधम, पामर, नीच) लिख दें तो बड़ा अनर्थ हो जाएगा।

उत्तराखण्ड की भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि की उपयुक्तता

विश्व में सर्वाधिक संख्या में बोली जाने वाली चीनी जैसी चित्रात्मक भाषा के लिए 5000 चित्रों को ध्यान में रखना पड़ता है। फिर भी उसमें 'क' और 'ग' के लिए एक ही ध्वनि है। अल्पप्राण ओर महाप्राण ध्वनियों के लिए अलग लिपि चिह्न नहीं है। जर्मन भाषा की लिपि में 'य' वर्ण है ही नहीं। स्पेनिश में 'अ', 'ऊ', 'ज', 'ट', 'ड', 'ण' के लिए कोई व्यवस्था नहीं है। वहाँ 'के' मूक रहता है तथ 'जे' 'ख' अथवा 'ड' की ध्वनि देता है। रूसी नामों में 'वी' को 'फ' की तरह उच्चरित किया जाता है। रोमन लिपि के bridge, budget, daughter, half, catch, write, wrong, pneumonia आदि अनेक शब्दों में कुछ ध्वनि चिह्न अनुच्चरित रहते हैं। शब्दों के स्पेलिंग रटते-रटते छात्र थक जाते हैं। हर बार शब्द-कोश टटोलते रहो। प्रादेशिक भाषाओं की बात करें तो बंगला में ब और व के लिए एक ही लिपि चिह्न है। न और ण एक ही प्रकार से बोले जाते हैं। तमिल में देवनागरी के कई महाप्राण और सधोष ध्वनियाँ जैसे- ख, ग, ध, छ, झ, ठ, ढ, ड, ढ, थ, द, ध, फ, ब, भ, श आदि नहीं हैं। गुरुमुखी में हलन्त नहीं लगता। परन्तु देवनागरी में अनुच्चरित अक्षरों का प्रयोग नहीं होता, जो इसकी सुबोधता, सरलता तथा सुपाठ्यता का एक महत्त्वपूर्ण आधार बनता है।

स्वर और मात्राओं में व्यतिरेक

एक सर्वेक्षण के अनुसार मनुष्य के मुँह से कम से कम 40 ध्वनियाँ निकलती हैं, जिनके लिए रोमन लिपि के 26 वर्ण पर्याप्त नहीं हैं। अंग्रेजी में पाँच स्वर सहित कुल 26 वर्ण हैं, जिनका उच्चारण समरूप नहीं है। but में 'u' ध्वनि उच्चरित नहीं होती जब कि put में होती है। इसमें वही लिपि संकेत कई ध्वनियों में व्यक्त होता है। इस प्रकार के कई उदाहरण हैं। वर्णों की लिखावट भी रोमन में चार प्रकार की है। हाथों से लिखे जाने वाले और मुद्रित वर्णों में भिन्नता है। फिर स्मॉल और कैपिटल अक्षर भी अलग-अलग तरीके से लिखे जाते हैं। अजीब कनफ्यूजन है! रोमन लिपि की इस असमानता से खिन्न होकर अंग्रेजी के महान् नाटककार बर्नेड शॉ ने तो अपनी सम्पत्ति का एक भाग रोमन लिपि में सुधार के लिए वसीयत के रूप में रख छोड़ा था!

नस्ता 'लीक' लिपि में 'अलिफ़' और 'ऐ' 'न' के अतिरिक्त स्वर वर्ण हैं

ही नहीं। 'इ', 'उ', 'ऊ' तथा द्वित्व रूप ध्वनित करने के लिए ज़ेर ज़बर पेश, तशदुद जैसे वैशिष्ट्य दर्शक चिह्न (डाइक्रिटिकल मार्क) लगाने का विधान तो है, परन्तु लिखते समय इनका प्रयोग विरल ही होता है। तनिक सी लापरवाही से कई बार अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है। इसी बात पर एक बहुचर्चित परिहास भी है। उर्दू भाषा की लिपि नस्ता'लीक में एक सन्देश लिख कर भेजा गया 'लाला जी अजमेर गए बड़ी बहू को पटना भेज दो। गंतव्य स्थान पर ज़ेर जबर पेश मात्रा-चिह्नों की असावधानी से संदेश पढ़ लिया गया 'लाला जी आज मर गए। बड़ी बहू का पीटने भेज दो।' फिर तो हाहाकार मच गया!

देवनागरी की वैज्ञानिकता

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कोई भी लिपि शत प्रतिशत दोषमुक्त, सक्षम और सर्वथा परिपूर्ण नहीं हो सकती। फिर भी उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि देवनागरी में अपेक्षाकृत और अधिकांशतः वे सभी विशिष्टताएँ उपलब्ध हैं जो एक आदर्श लिपि में होनी चाहिए। देवनागरी लिपि में मूल स्वरों का ह्रस्व और दीर्घ दोनों रूपों में प्रयोग होता है, जैसे अ-आ, इ-ई, उ-ऊ। इस स्पष्टता के कारण ध्वनियों की सूक्ष्मता लिपिबद्ध की जा सकती है। यही नहीं, प्लुत के लिए ऽ एवं अति प्लुत के लिए ऽऽ चिह्न उपलब्ध हैं। लम्बी तान एवं सम्बोधन हेतु आवश्यकतानुसार ऽऽऽऽ..... बढ़ा सकते हैं। नस्ता'लीक़, रोमन एवं कई अन्य लिपियों में यह व्यवस्था नहीं है। अंग्रेजी में a से कम से कम सात ध्वनियाँ व्यक्त हो सकती हैं - cat, small, mare, many, was, steward, shade आदि। अब तो. विशेषतः व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के लिए 'आ' ध्वनि AA और अन्यत्र AAA के रूप में व्यक्त की जा रही है। परन्तु इसे अभी तक अधिकृत मान्यता नहीं मिल पाई है।

भारत की लगभग सभी भाषाओं को प्रभावित करने की क्षमता रखने वाली देवनागरी लिपि को सार्वदेशीय कहा जा सकता है। तर्कसंगत और सुनिश्चित संयोजन व्यवस्था के साथ यहाँ प्रत्येक वर्ण एक अक्षर को घोषित करता है। उसका एक निश्चित स्वनिक नियम है। उस स्वन को सही ढंग से सुनने और समझने के पश्चात् उसे लिपिबद्ध किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यहाँ जैसे लिखा जाता है, वैसा ही बोला जाता है और जिस प्रकार बोला जाता

उत्तराखण्ड की भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि की उपयुक्तता

है, उसी प्रकार लिखा भी जाता है। मुँह की बनावट तथा स्वरतंत्रों की अवस्थिति के अनुसार स्वर एवं व्यंजन तथा पुनः व्यंजनों को उनके उच्चारणोपयोगी स्थानों कंठ, तालु, मूर्धा, दंत एवं ओष्ठ से निःसृत ध्वनियों को पूर्ण तारतम्यता और वैज्ञानिक आधार पर वर्गीकृत किया गया है। इस स्पष्ट और निर्भ्रान्त व्यवस्था और वर्गीकरण के फलस्वरूप देवनागरी लिपि को सर्वाधिक वैज्ञानिक माना गया है।

अधिकांश भाषाविद् देवनागरी की वैज्ञानिकता पर मुग्ध हैं। सर विलियम जोन्स भले ही रोमन लिपि का पक्ष लेते रहे हों, परन्तु वे देवनागरी का गुणगान करने से कभी थके नहीं। उन्होंने देवनागरी की पूर्णता के समक्ष रोमन लिपि को उपहासास्पद बताया था। श्रुतिलेखन (फोनोग्राफी) के अनुसंधानकर्ता आइज़क पिटमैन के अनुसार कोई लिपि यदि सर्वाधिक परिपूर्ण है तो वह एक मात्र देवनागरी है। कई भाषाविद् और विद्वानों ने देवनागरी लिपि की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए इसे अन्य लिपियों की तुलना में अधिक सुव्यवस्थित, पूर्ण वैज्ञानिक एवं सर्वश्रेष्ठ बताया है। इनमें व्यूलर हार्नले, हुक्शोभेकडानल थामस तथा आइज़क टेलर उल्लेखनीय हैं। जॉन क्राइस्ट ने तो यहाँ तक कह दिया कि “मानव मस्तिष्क से निकली हुई वर्णमाला नागरी सबसे पूर्ण वर्णमाला है।”

एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि जिस प्रकार विश्वभर के किन्ही भी दो व्यक्तियों की शक्ति-सूरत एक समान नहीं होती, उसी प्रकार हर इंसान के उच्चारण में भी वैभिन्य रहता है। किसी भी लिपि में प्रत्येक व्यक्ति के उच्चारण को यथावत् अंकित करने की क्षमता वाले लिपि चिह्न नहीं बन सकते। देवनागरी इसका अपवाद नहीं है। सर्वथा स्वनिमाश्रित तथा लगभग सभी ध्वनियों को स्वरूप देने की क्षमता एवं सर्वाधिक वैज्ञानिक होते हुए भी देवनागरी लिपि में सुधार के लिए सुझाव आते रहे हैं। टाइपराइटर, कम्प्यूटर के कुंजीपटल, मुद्रण में सरलता और त्वरितता के हितार्थ ‘अ’ स्वर में ही अन्य मात्राएँ जोड़ने – जैसे अि, अी, अु, अ्, अे, अै को अपनाने के प्रस्ताव भी रखे गए। हिन्दी सीखने के इच्छुक अहिन्दी तथा विदेशी अध्येता को यह समझाना कठिन हो जाता है कि ‘इ’ की मात्रा वर्ण से पूर्व क्यों लगती है, जबकि बोली बाद में जाती है। शीघ्र लिखने के लिए शिरोरेखा विहीन रूप रखने का भी सुझाव दिया जाता है। ‘श’, ‘ष’, ‘स’ की भिन्न ध्वनियों को भी कुछ भाषाविद् अनावश्यक मानते

हैं। देवनागरी की दुर्बलता दर्शित करने के लिए यह भी कहा जाता है कि इनकार, सरकार, बिलकुल, कुरता, कुरसी, करना, चलना, बोलना आदि अनेक शब्दों पर 'जैसा बोलना वैसे लिखना' का सिद्धान्त लागू नहीं होता। 'दुःख' जैसे अनेक शब्दों में प्रयुक्त विसर्ग का उच्चारण कैसे करें? इसी प्रकार कई अन्य न्यूनताएँ लक्षित कराई जाती हैं, जिन पर लिपि वैज्ञानिकों ने कई बार चर्चा की। पठन-पाठन आदि की सुविधा को दृष्टि में रखते हुए टंकण, कम्प्यूटर, मुद्रण, वाचन के सुविधार्थ पर्याप्त विचार विमर्श के पश्चात् केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा आंशिक सुधार के उपरान्त हिन्दी वर्तनी तथा लिपि के लिए अतिरिक्त मानक देवनागरी वर्णमाला, शिरोरेखा, वर्णाकृति और वर्णों की लिखावट में एक निश्चित दिशा-पद्धति तकनीकी ड्राइंग तय की गई। इसे व्यवहार में लाना अब लेखकों का दायित्व है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त संक्षेपतः कहा जा सकता है कि देवनागरी एक सरल, सुगम एवं संदेहरहित लिपि है। यह विश्वभर की समस्त लिपियों की तुलना में अधिक वैज्ञानिक, निर्दोष, सक्षम और मान्य है। इसमें अपेक्षाकृत अधिकांश ध्वनियों को प्रदर्शित करने के लिए भिन्न-भिन्न लिपि चिह्न विद्यमान हैं। आदर्श लिपि की लगभग सभी शर्तों को देवनागरी लिपि पूर्ण करती है। यह केवल हिन्दी और उसकी लगभग 45 उपभाषाओं और बोलियों की ही नहीं, वरन् भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित संस्कृत, मराठी, डोगरी, मैथिली, बोडो, नेपाली की भी अधिकृत लिपि है। कोंकणी, संथाली और सिंधी भी इसे अपना रही हैं। उर्दू के लिए भी इसका प्रयोग बढ़ रहा है। गढ़वाली तथा कुमाउँनी का समस्त साहित्य भंडार भी देवनागरी लिपि में ही निबद्ध है। निस्संदेह देवनागरी लिपि की आंतरिक व्यवस्था, ध्वनियों के अनुरूप स्पष्ट, सरल लिपि-चिह्न आदि के तर्कसंगत विवेचन से यह स्पष्ट है कि यह लिपि सभी दृष्टि से सुसम्पन्न होने के कारण सर्वग्राह्यता के सिद्धान्त पर खरी उतरती है।

विशाल भाषा क्षेत्र की इस लिपि का परित्याग कर, इसके स्थान पर कुमाउँनी, गढ़वाली और जौनसारी भाषाओं के लिए एक स्वतंत्र और भिन्न लिपि निर्मित करने की अनुगूँज यदा-कदा सुनाई देती है। कारण बताए जाते हैं कि ये भाषाएँ प्लुतमयी हैं जिनकी देवनागरी में समुचित व्यवस्था नहीं है।

उत्तराखण्ड की भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि की उपयुक्तता

इसके लिए अलग प्रावधान होने चाहिए। नव अक्षर ज्ञान करते समय शिशुओं को ख, ढ, श्र आदि अक्षरों का ज्ञान नहीं कराया जाता। इस पार्वत्य प्रदेश में प्रयुक्त अर्द्ध स्वरों- य तथा व- को यथावत् ध्वनित करने में देवनागरी असफल लिपि है। यह भी वकालत की जाती है कि गढ़वाली-कुमाउँनी के सभी उच्चरित स्वरूपों तथा ध्वनियों के वैशिष्ट्य को देवनागरी लिपि में पूर्णतः उतारना सम्भव नहीं है। तर्क दिया जाता है कि यदि इन भाषाओं की अपनी स्वतंत्र लिपि बन गई तो इन्हें तुरन्त संविधान की आठवीं सूची में सम्मिलित कर लिया जाएगा। एक नई लिपि के पक्ष में दलील देते समय यह भुला दिया जाता है कि विश्व भर में समस्त पर्वतीय प्रदेशों की भाषा के उच्चारण में सर्वत्र वैभिन्य-वैषम्य मिलता है। गढ़वाली-कुमाउँनी के शब्दोच्चारण और अभिव्यक्ति में एक विशेष 'ढौळ' (टोन, लहजा, आरोह-अवरोह) होता है। वाल्टन अपने गढ़वाल गजेटियर में स्पष्ट लिखते हैं। कि गढ़वाली भाषा संगीतमयी (sing song) है जो स्काटलैंड वासियों की भाषा का स्मरण दिलाती है। भौगोलिक कारणों तथा क्षेत्रीयता, स्थानीयता, पुरातनपंथी विचारधारा एवं प्राचीन संस्कृत के अनुरक्षण के प्रति मोह और कुछ सीमा तक हठधर्मिता के कारण कुछ लेखक सप्रयास भिन्न उच्चारणों को नागरी में लिपि बद्ध करने की अक्षमता पर आवश्यकता से अधिक हो - हल्ला कर रहे हैं, जो यहाँ के साहित्य एवं संस्कृति के लिए शुभ लक्षण प्रतीत नहीं होता।

विशेषक चिह्न

गढ़वाली और कुमाउँनी भाषाओं की अपनी औच्चारणिक विशिष्टता है, जो स्वनिमिक और ध्वनिमिक दोनों हैं। यह स्वर वर्णों में अपेक्षाकृत अधिक है। यहाँ एक ही स्वर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में ह्रस्व, किंचित ह्रस्व, अतिह्रस्व, दीर्घ, अति दीर्घ, प्लुत, लम्बी तान युक्त, वर्तुल, विलंबित, अर्ध वर्तुल, अति दुर्बल, उदासीन, फुसफुसाहट युक्त, अश्रव्यसा, विवृत, अर्द्ध विवृत आदि अनेक ध्वनियों में निःसृत होता है। फलतः 'अ' ध्वनि के चार, 'आ' के तीन, 'इ' 'ई' 'उ' 'ऊ' के दो, 'ए' के तीन, 'ऐ' के चार, 'ओ' के तीन एवं 'औ' के दो स्वर-रूप हैं जो देवनागरी लिपि के 11 स्वरों की तुलना में 24 ठहरते हैं। इन विशिष्टताओं को अक्षुण्ण रखने के लिए एकमात्र उपाय कुछ सर्वमान्य लिपि

संकेत अथवा विशेषक चिहनों (डाएक्रिटिक मार्क्स) का प्रयोग सम्भव है जिनकी संख्या 25 तक जा सकती है। यदि हमें गढ़वाली-कुमाउँनी भाषाओं के मूल स्वरूप को जीवित रखना है तो इन चिहनों में से कम से कम कुछ को एक न एक दिन अपना पड़ सकता है। भले ही इन पर आम सहमति न बन पाए। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने भी भारतीय भाषाओं की विशिष्ट ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए देवनागरी में कुछ विशेषक चिह्न जोड़े हैं। रोमन लिपि का प्रयोग करने वाली सभी भाषाओं के शब्दों के सही उच्चारण दर्शाने के लिए विशेषक चिह्न निर्दिष्ट रहते हैं। परन्तु ध्यान रखना पड़ेगा कि लिखते समय ये चिह्न निर्धारित स्थान से इधर-उधर न लग जाएँ, नहीं तो समस्त प्रयास अर्थहीन हो जाएगा। उर्दू के ज़ेर, ज़बर, पेश का उदाहरण पीछे दिया जा चुका है।

इस तथ्य को अवहेलित नहीं किया जा सकता कि भाषा अपेक्षाकृत अधिक प्रवाहमान, स्वच्छन्द, परिवर्तनशील एवं गतिशील होती है जबकि लिपि पर परम्परा का अधिक प्रभाव बना रहता है। अतः उसमें एकदम महापरिवर्तन करना व्यावहारिक दृष्टि से असंभव सा होगा, क्योंकि एक विशिष्ट लिपि में विशाल साहित्य मुद्रित है। उसमें अपार धनराशि, श्रम एवं समय लगा होता है। अब नई लिपि का अविष्कार का प्रयास कोई व्यक्ति डिग्री लेने हेतु अनुसन्धान के नाम पर या सम्मान या नाम कमाने अथवा बड़ा पुरस्कार पाने के उद्देश्य से भले ही कर ले, किन्तु प्रचलित लिपि को पूर्णतः समाप्त कर एक नई लिपि को प्रचलित करने का आग्रह उचित नहीं। इसे आसानी से मान्यता मिलना भी संदेहास्पद होगा। गढ़वाली भाषा के मौखिक या लिखित रूप और साहित्य से पूर्णतः अपरिचित और अनभिज्ञ पंजाबी मूल के एक व्यक्ति ने तो देवनागरी की शिरोरिखा हटाकर तथा कुछ स्वर मात्राओं की खड़ी-पाई की थोड़ी सी काट-छाँट मात्र से राज्यपाल महोदय के सम्मुख उसे गढ़वाली के लिए नई लिपि का नाम दिया और एक मोटी रकम से स्वयं को पुरस्कृत कराने में भी सफल हो गए! जौनसारी के परिप्रेक्ष्य में एक अनुसंधित्सु को नई लिपि 'खोजने' के फलस्वरूप डॉक्टरेट मिलने का समाचार भी कुछ समय पूर्व छपा था। परन्तु उस लिपि का उपयोग अभी तक कहीं देखने में नहीं आया।

अन्त में गढ़वाली-कुमाउँनी भाषाओं के लिए एक नई लिपि के समर्थक विद्वानों को स्मरण कराना आवश्यक है कि तुर्की को समृद्ध बनाने एवं

उत्तराखण्ड की भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि की उपयुक्तता

उसे आधुनिकता का आवरण पहनाने वाले कमाल अतातुर्क ने अपने देश की ख्याति और समृद्धि के लिए सब कुछ किया, परन्तु एक भयंकर भूल कर बैठे। उन्होंने अपनी लिपि को रोमन में बदल दिया! परिणामतः एक समृद्धशील सभ्यता कुंठित हो गई। भाषा और लिपि जैसे विषय मानव-संवेदनाओं से जुड़े रहते हैं। इनमें एक या कुछ व्यक्तियों की अभिरुचि या तानाशाही विरोध को जन्म देती है। अतः मेरा विनम्र सुझाव है कि ध्वन्यात्मक गुणों के आधार पर परिवर्तन – परिवर्द्धन से समस्त उत्तराखंडीय साहित्यिक निधि तिरोहित हो जाएगी। ध्यान रहे कि किसी भाषा विशेष को बोलने वालों में यदि अपनी भाषा और उसकी लिपि के प्रति आत्मीयता और वफादारी की उपादेयता को लेकर यदि सामूहिक रूप से तनिक भी शंका पैदा करने का प्रयास हो तो समझ लें कि उस भाषा और साहित्य के पतन तथा विलुप्ति के संकेत उभरने लगे हैं।



संदर्भ :

- | | | |
|---|---|--------------------------------------|
| देवनागरी लिपि तथा हिन्दी वर्तनी का मानकीकरण | : | केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय |
| डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल | : | भाषा, सितम्बर 1988 |
| डॉ. शेर सिंह बिष्ट | : | लोक गंगा, नवम्बर – दिसम्बर 2007 |
| डॉ. भवानीदत्त उप्रेती | : | कुमाउँनी भाषा का अध्ययन |
| डा. नरेश कुमार | : | भारतीय भाषाओं का विकास |
| डॉ. गोविन्द चातक | : | मध्य पहाड़ी की भाषिक परंपरा |
| डॉ. परमानंद पांचाल | : | राजभाषा भारती,
जुलाई-सितम्बर 2007 |
| पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा | : | भारतीय प्राचीन लिपि माला |
| डा. सुनीति कुमार चैटर्जी | : | भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी |

कुमाऊँ-गढ़वाल में पहाड़ अनेक; अन्तर्मन, दिल, धड़कनें और दर्द एक

प्रस्तावना

पहाड़ अर्थात् वह बहुचर्चित और बहु आयामी भौगोलिक इकाई जो मैदान, मरुस्थल, पठार अथवा समुद्रतट से नितान्त भिन्न है। इस छोटे से शब्द के सुनते ही मानस-पटल पर दो स्पष्ट, परन्तु अलग-अलग चित्र उभरते हैं – एक ओर हिमाच्छादित गगनचुम्बी पर्वत मेखलाओं का भव्य, सुरम्य और स्वर्गिक सौन्दर्य, जहाँ सीढ़ीनुमा खेतों की मनोहारी हरीतिमा और घाटियों की लुभावनी छटा दीखती है, तो दूसरी ओर चट्टान जैसी चुनौतियों और मुसीबतों का पहाड़! लाक्षणिक अर्थ में दुस्साध्य और कष्टकारी कार्यकलाप भी तो 'पहाड़' जैसे ही लगते हैं !

कैसे बने पहाड़

पौराणिकों, धर्माचार्यों और शास्त्रज्ञों का जो भी मत हो, भू-वैज्ञानिकों के अनुसार लगभग 45 खरब वर्ष पूर्व पृथ्वी की उत्पत्ति और तदुपरान्त कई चरणों में क्रमशः इसमें पानी, वायुमंडल तथा जीवन का प्रादुर्भाव और विकास हुआ। 2400 लाख वर्ष पूर्व तक केवल एक महाद्वीप एवं एक ही महासागर था। 1600 लाख साल पहले महासागरीय टकराव से यह एक महाद्वीप दो भागों में विभक्त हो गया। महाद्वीपीय प्रवाह के पश्चात् धीरे-धीरे समुद्र में जमा संस्तर (स्ट्रैटा), चट्टान, जमीन की परतें आदि ठोस द्रव उभर कर अस्तित्व में आने लगे, जिन्हें कालान्तर में पर्वत-शृंखला (माउन्टेन रेंज) का नाम दिया गया। विश्वभर के सभी प्राचीनतम प्रमुख धर्म-ग्रंथों में भी न्यूनाधिक रूप से पृथ्वी तथा पर्वतों की उत्पत्ति और निर्माण के विषय में इसी धारणा के संकेत मिलते हैं। मनुस्मृति एवं महाभारत में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित है। छायावाद के मूर्धन्य कवि जयशंकर प्रसाद कृत महाकाव्य कामायनी के प्रारंभिक छन्द में वर्णित है कि हिमाद्रि के ऊँचे शिखर पर एक प्रस्तर की ठंडी छाया में सुस्ता रहा

कुमाऊँ-गढ़वाल में पहाड़ अनेक; अन्तर्मन, दिल, धड़कने और दर्द एक

आदि पुरुष मनु, महाप्रलयान्तर जलप्रवाह के तरल जल के ऊपर सघन हिम के दृश्य को अश्रुपूरित नयनों से देख रहा था :-

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह
एक पुरुष भीगे नयनों से देख रहा था प्रलय प्रवाह।
नीचे जल था ऊपर हिम था, एक तरल था एक सघन
एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।

विश्व के पहाड़

समस्त पृथ्वी का लगभग एक चौथाई भाग पर्वतीय क्षेत्र है। विश्व के लगभग 140 देशों में फैला तीन करोड़ वर्ग किलोमीटर क्षेत्र का 10 प्रतिशत अंश हिम और हिमनदों (ग्लेशियर) से ढका है। हिमनद भी एक प्रकार के पहाड़ ही हैं। ध्यातव्य है कि हिम और हिमनदों का अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह निश्चित क्षेत्र में 'जल भंडार' के रूप में जल के प्रमुख स्रोत के साथ-साथ क्षेत्र के जलवायु-परिवर्तन, पर्यावरण का संरक्षण, मलवा को जमा करना तथा उसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने की महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन तो करते ही हैं, यही हिमनद कई बार भंयकर तबाही मचा देने वाले प्रलयकारी बाढ़ के भी कारक हैं।

सामान्यतः एक हजार मीटर से अधिक ऊँचाई वाले भूभाग को 'पहाड़ी' क्षेत्र के नाम से अभिहित किया जाता है। इस दृष्टि से संसार के पहाड़ों या पहाड़ी क्षेत्रों में, प्रमुखतः विशाल हिमालयी क्षेत्र, उत्तरी अमेरिका (अलास्का, कनाडा सहित) के पठारी पहाड़, दक्षिणी अमेरिका (चिली, पेरू, इक्वाडोर) के एण्डीज पर्वत, स्विटजरलैंड के विश्वप्रसिद्ध यूफ्राँ (JUNGRAUJCH) तथा माउंट टिटलिस, फ्रांस और इटली स्थित आल्प्स की पर्वतमालाएँ अफ्रहका (अलजीरिया, मोरक्को) के एटलस, यूरोप-रूस की सीमा का विस्तीर्ण युराल, अफगानिस्तान-पाकिस्तान के उत्तर में हिन्दूकुश, ईरान का जगरोश पर्वत उल्लेख्य हैं। उत्तरी अमेरिका, कनाडा के अपलाचेन्स, यूरोप के दक्षिणी भाग (ऑस्ट्रिया, क्रोशिया) में स्थित कारपेथंस एवं आस्ट्रेलिया के साउदर्न आल्प्स के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत कम जानकारी मिलती हैं।

दक्षिणी ध्रुव पर विराजमान विश्व का पाँचवा सबसे बड़ा महाद्वीप

अंटार्कटिका (आकार में 140 लाख वर्ग कि.मी.) जनमानस से रहित है। इस पेंग्विन-प्रदेश का लगभग 98 प्रतिशत भाग हिम से आच्छादित है। अंटार्कटिका की औसत ऊँचाई 2300 मीटर एवं सर्वोच्च पर्वत शिखर 'विन्सन मैसिफ' समुद्रतल से 5140 मीटर ऊँचा है। धरती का सबसे न्यूनतम तापमान शून्य से 89.2 डिग्री सेंटीग्रेड कम, अंटार्कटिका में अंकित किया गया। यहाँ 320 कि.मी. प्रतिघंटा से बर्फीली आँधियाँ चलने का भी रिकार्ड है।

प्राचीन ग्रंथों में पहाड़

पुराण-साहित्य में मलय, मंगलप्रस्थ, मैनाक, त्रिकूट, ऋषभ, कूटक, कोल्लक, देवगिरि, ऋष्यमूक, श्रीशैल, वेंकट, महेन्द्र, वारिधारा, विन्ध्य, शक्तिगान, ऋक्ष्यगिरि, पारियात्र, द्रोण, चित्रकूट, गोवर्धन, रैवतक, ककुभनील, इन्द्रकील, कामगिरि आदि कई पर्वतों का उल्लेख मिलता है। अकेले वामन पुराण में 20 पर्वत गिनाए गए हैं। श्रीमद्भागवत में 18 पर्वतों का अंकन है। कही-कहीं 'पर्वत' शब्द पहाड़ का पर्याय न होकर 'वर्ष' (वर्ष पर्वत) और 'कुल' (कुल पर्वत) के रूप में प्रयुक्त किया गया है।

प्रकृति के सौन्दर्य के महान् उपासक महाकवि कालिदास के काव्य में अनेक पर्वतों के प्रसंग आए हैं। कुमारसम्भव में पर्वतराज हिमालय तथा ओषधिप्रस्थ; मेघदूत में रामगिरि विन्ध्य पर्वत् हेमकूट, विक्रमोर्वशीय में गन्धमादन, रघुवंश में गोमुख समीपस्थ क्षेत्र उड़ीसा का महेन्द्र पर्वत, चित्रकूट, त्रिकूट, सुवेल आदि पर्वतों की चर्चा है। कविशीर्ष भारवि द्वारा उल्लिखित इन्द्रकील पर्वत हिमप्रदेश का ही अंश है। माघ कवि का रैवतक पर्वत द्वारका के समीप चिह्नित किया गया है। रामभक्त हनुमान संजीवनी बूटी के लिए हवाई मार्ग से जिस सुमेरू पर्वत गए थे, वह गढ़वाल प्रखंड के चमोली जिले में सुप्रसिद्ध 'फूलों की घाटी' वाला पर्वत की ओर इंगित करता है।

महाहिमालय : शिखर, दर्रे और हिमनद

समस्त विश्व में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त महाहिमालय क्षेत्र उत्तर पश्चिम में हिन्दूकुश पर्वत शृंखलाओं के नागा पर्वत (8125 मी.) से लेकर पूर्व में नामचा बर्वा तक लगभग 2500 कि.मी. लम्बा एवं 100 कि.मी. चौड़ा भू-भाग है। सुविख्यात तथा 8000 मीटर से अधिक समस्त ऊँचे शिखर इसी अंचल में

कुमाऊँ-गढ़वाल में पहाड़ अनेक; अन्तर्मन, दिल धड़कने और दर्द एक

हैं, जिनमें माउंट एवरेस्ट, गाडविन आस्टिन (के-2), कंचनजंगा, ल्होत्से, मकालू, घौला गिरि, अन्नपूर्णा आदि प्रमुख हैं। 7000 मीटर से अधिक चोटियों में मुख्य रूप से नन्दा देवी, कामेट, चौखम्बा, त्रिशूल, दूनगिरि आदि हैं। इनसे कम ऊँचाई वाले पर्वत तो असंख्य हैं। कई पर्वत-चोटियाँ भिन्न नामों से भी जानी जाती हैं। उदाहरणतः भारत के प्रथम सर्वेयर जनरल ज्यॉर्ज एवरेस्ट का नामधारी धरती का सबसे ऊँचा, नेपाल-तिब्बत की सीमा पर स्थित विश्वविख्यात माउंट एवरेस्ट को नेपाल में 'सागरमाथा' तथा तिब्बत में 'चौमुलंग्मा' नाम से जाना जाता है।

भारत के इतिहास, सभ्यता तथा संस्कृति को प्रभावित करने वाले विदेशी आगंतुक और आक्रान्ता प्रधानतः महाहिमालय स्थित दर्रों से ही प्रविष्ट हुए। इनमें प्रमुख दर्रें (तिब्बती भाषा में 'ला') भारत को तिब्बत से भिन्न करने वाली सीमा पर हैं, जो उत्तर पश्चिम में कराकोरम से प्रारम्भ होकर पूर्व में अरुणाचल प्रदेश तक स्थित हैं। कराकोरम का अर्थ है- 'काला पत्थर', जिसे हिमाच्छादित होने के कारण धवल शिखर भी कहा जाता है। यह स्वयं भी एक प्रसिद्ध दर्रा है, जिसके अन्तर्गत 5000 मी. से अधिक ऊँचाई पर स्थित गजताक, सियाल, बिलोतोन्दा ला, मारपां ला मुख्य हैं। लद्दाख प्रखंड में खारदुंगला (1962 ई. के चीनी आक्रमण में प्रसिद्धि प्राप्त), दिगर ला, चौखार ला, चग ला, सक ला प्रमुख दर्रें हैं। सिक्किम में सिंगली ला, चो ला, कंगनोस ला, नाथू ला, लिपूलेख अधिक प्रसिद्ध हैं। ल्हासा और तिब्बत की मंडियों में गढ़वाल और कुमाऊँ के कई व्यापारी मुख्यतः नाथू ला, लिपूलेख जैसे दर्रों से ही आवागमन करते थे। हिमाचल क्षेत्र में पारंग, कांग ला, पिनपार्वती, रोहतांग, केन्जन ला आदि अन्य मुख्य दर्रें हैं। अरुणाचल में बोमडि ला के अतिरिक्त सेला पास को अधिक जाना जाता है।

पहाड़ों की संरचना में हिमनदों (ग्लेशियर) का विशिष्ट महत्त्व है। महा हिमालय क्षेत्र में हिमनदों की संख्या 5000 से 15000 तक आँकी गई है। पिंडारी, मिलम, सनमुल्पा, पोटिंग, गंगोत्री, जीमू, गारा, सियाचिन, हिस्पर, बाइफोट, बतुरा, नन्दा देवी, केदारनाथ, सतोपंथ, माणा, खुम्बू, खतिलिंग, कांगशुंग आदि महाहिमालय क्षेत्र के प्रमुख हिमनद हैं, जो सामान्यतया घाटियों में समानान्तर रूप में स्थित हैं।

महत्ता, क्षमता, समता, विपन्नता और विविधिता में एकता

पर्वतों को शक्ति-पुंज कहा गया है। उनमें देवताओं का निवास है। वे

दर्शनीय और पवित्र, अतः पूजनीय हैं। तुर्किस्तान का माउंट अरारात दुनियाभर के मुसलमानों का तीर्थस्थल है, जहाँ आदि पुरुष-नूह, मनु या आदम- की वह स्वर्ण निर्मित नाव अभी भी सुरक्षित रखी गई है, जिसकी सहायता से जन-आस्था के अनुसार महाप्रलय के पश्चात् नूह ने अपनी जीवन-रक्षा की थी। आज सभी मनुज उसी मनु या नूह के वंशज हैं। बदरीनाथ, केदारनाथ, अमरनाथ तथा तिब्बत स्थित कैलास पर्वत हिन्दुओं के मुख्य तीर्थस्थल हैं। पर्वतारोहण, अनेक साहसिक खेल, पर्यटन, अनुसंधान, तीर्थ, तप, ध्यान आदि के लिए आदर्श स्थलों की प्रचुर मात्रा में उपलब्धता के फलस्वरूप यहाँ आवागमन में वृद्धि और तदनुसार इस क्षेत्र के निवासियों को रोजगार मिलता है। पहाड़ दिव्य दर्शन और जीवनदात्री नदियों के उद्गम स्थल ही नहीं, वन्यता, पर्यावरण, दुर्लभ पशु-पक्षियों का निवास स्थल, विशिष्ट वनस्पति, सुगंधित पुष्पों के जनक और पोषक भी हैं। कालिदास ने इन्हें 'भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च' (बहुमूल्य चमकीले रत्नों तथा जीवनदायिनी अलभ्य महाऔषधियों का भंडार) तथा 'अनन्त रत्न प्रभवश्च' (अन्तहीन, असंख्य हीरे जवाहरात एवं बेशकीमती नगों की खान) बताया। विभिन्न प्रजातियों के जीव-जन्तु, पत्र-पुष्प, असाध्य रोगों की निवारक अलभ्य जड़ी-बूटियाँ तथा मृतप्राय शरीर को पुनर्जीवित करने की क्षमता रखने वाले, अन्यत्र अनुपलब्ध, दुर्लभ वनौषधियों में प्रयुक्त होने वाले पादप इन पार्वत्य प्रदेशों में ही पाये जाते हैं। यही नहीं, आर्थिक क्षमता की वृद्धि के लिए पर्वतों में अनेक खनिज पदार्थ और प्राकृतिक गैस की संभावना भी बताई जाती है।

सन् 1995 में लिए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार विश्व में लगभग 52 करोड़ पर्वतजन हैं। परन्तु यह विडम्बना ही है कि असीम प्राकृतिक सम्पदा से वैभव सम्पन्न होते हुए भी यहाँ के अधिकांश निवासी विपन्नता से आक्रान्त हैं। आय बढ़ाने के साधनों के अभाव में अधिकतर पर्वतीय पुरुष वर्ग या तो सैनिक हैं या श्रमिक। अन्यो में पशुचारक, छोटे किसान, बुनकर, हस्तशिल्पी, लकड़हारे आदि गिनाए जा सकते हैं। मध्य हिमालयी क्षेत्र में कृषि अधिकांशतः महिलाओं पर आधारित है। वंशानुगत और जलवायुगत कारणों से शरीर और चेहरे की बनावट और रंग में भिन्नता होते हुए भी व्यापक रूप में सभी पहाड़वासियों का मूलभूत जीवन-दर्शन एक-सा है। प्रकृतिजन्य विषम परिस्थितियोंवश उनमें स्वतः ही संघर्षशीलता, मितव्ययता, सहिष्णुता, संवेदनशीलता, आत्मनिर्भरता,

कुमाऊँ-गढ़वाल में पहाड़ अनेक; अन्तर्मन, दिल धड़कने और दर्द एक

आस्तिकता, भाग्यवादिता, पारस्परिक सौहार्द, स्वाभिमान, निष्कपटता, संतुष्टि और सारल्य है। पहाड़ों के चीड़ और देवदार के वृक्षों के समान अधिकांश पर्वतजन सीधे, सपाट और खरे होते हैं। साफ बात करने वाले, जिनमें कोई लाग-लपेट नहीं। चेहरे और चाल भिन्न होते हुए भी उनकी चारित्रिक विशिष्टताएँ उनके दिल, दर्द और धड़कनें सामान्यतया एक-सी होती हैं। कुछ नकारात्मक प्रवृत्तियाँ यथा-पहल करने में हिचकिचाहट, व्यापारिक वृत्ति का अभाव, पिछलग्गू और दबूपन के संस्कार भी कुछ सीमा तक समान हैं।

कुमाऊँ और गढ़वाल परिक्षेत्र : पर्वत श्रृंखलाएँ, नद-महानद तथा विस्तीर्ण बुग्याल

भू-वैज्ञानिकों के मतानुसार हिमालय की रचना लगभग चार करोड़ वर्ष पूर्व उत्तर की ओर से चलती हुई भारतीय प्लेट के यूरोपीय प्लेट के टकराने से हुई। स्थलाकृति, संरचना और प्राकृतिक दृष्टि से महाहिमालय को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है - 1. पश्चिमी हिमालय-जम्मू कश्मीर तथा हिमाचल प्रदेश। 2. मध्य हिमालय-गढ़वाल, कुमाऊँ। 3. पूर्वी हिमालय-नेपाल, सिक्किम, दार्जीलिंग जनपद, असम, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश और नागालैंड। मध्य हिमालय क्षेत्र के उत्तर में भारत-चीन विभाजक रेखा, दक्षिणी सीमा में तराई भावर की पट्टी, पूर्व में म्याँमार तथा पश्चिमी सीमा में पाकिस्तान है। वृहद हिमालय के तराई, भावर, दून या शिवालिक पहाड़ियाँ 'पहाड़ी' संस्कृति से तनिक भिन्न हैं।

मध्य हिमालय की बनावट और संरचना की मुख्य विशेषता है- आसमान को छूती पर्वत चोटियाँ, अगम्य पठार, विषम क्षेत्र, चित्ताकर्षक हरीतिमा और सुरम्य घाटियाँ। मध्य हिमालयी क्षेत्र (गढ़वाल, कुमाऊँ) लगभग 28-51 अक्षांश और 77°-43° से 81°-31° पूर्वी देशान्तर तक लिया जाता है। हिमनदों से निकलने वाली सदानीरा मुख्य नदियाँ हैं - यमुना, टोंस, भागीरथी, अलकनन्दा और उसकी सहायिकाएँ- सरस्वती, धौली, मन्दाकिनी एवं पिंडर, नयार, रामगंगा और उसकी सहायक नदियाँ- गगास, नेल, दियोगांड ट्योता, मंडल, सोना, कोसी, कथीयांगती, धौली, गोरी, सरयू, गोमती, लोहावती और लदिया। दुर्योग है कि पहाड़ के जंगल, जमीन, जवानी और जल यहाँ के काम नहीं आते। उक्त सभी नदियों का अधिकांश जल मैदानी क्षेत्रों की सिंचाई के

लिये ही जाता है।

गढ़वाल मंडल में स्थित मुख्य सरोवरों में ड्योड़ी ताल, भासर ताल, जराल ताल, सहस्रताल, नंदी कुंड, रूप कुंड, गौरी कुंड हैं। कुमाउँ मंडल के प्रमुख ताल हैं- पार्वती ताल, तडागताल, गरुड़ताल, खुरपाताल, नैनीताल, भीमताल, सातताल, नौकुचियाताल, लोखाताल, हरीशताल, श्यामताल आदि। वनस्पति की चर्चा करें तो समुद्र की सतह से 800-1000 मीटर तक ऊँचे भाग में साल, सागौन; 1000-1500 मीटर तक चीड़; 1500-2000 मीटर तक बाँज, बुर्रांस, देवदार; 2000-3000 मीटर तक स्वयंभू जुनीफर- बुर्रांस की झाड़ियाँ तथा 3000 मीटर से ऊपर समतल वृक्ष-विहीन इलाके हैं। यहाँ 'बुगी' घास बहुतायत से होती है इसीलिए इन्हें 'बुग्याल' कहा जाता, जो पशुपालन के लिए प्रसिद्ध हैं। ज्ञातव्य है कि स्विटजरलैंड के यूफ्राँ एवं यूरोपीय आल्प्स और कश्मीर के गुलमर्ग की बर्फाच्छादित ढलानों पर प्रतिवर्ष हजारों खेल प्रेमी स्कीइंग का आनन्द उठाने के लिए आते हैं, जिससे वहाँ की अर्थ व्यवस्था में वृद्धि होती है। यूफ्राँ की ढालों पर 'स्लेज' की सवारी अनूठी है। इधर मध्य हिमालय में औली, आली, बेदनी, माणा, दयारा आदि प्रमुख बुग्याल हैं। औली सम्भवतया विश्व में विंटर गेम्स, स्कीइंग आदि से प्रसिद्धि पा सके।

आकर्षण का केन्द्र बिन्दु

हिमालय क्षेत्र अपनी भौगोलिक विशिष्टता और विविधता के कारण समस्त विश्व के लिए विशेष आकर्षण और जिज्ञासा का केन्द्र रहा है। कश्मीर की रमणीय, सुरम्य वादियाँ पर्यटकों को नित नवीन परिधान में अपनी ओर खींचती हैं। गगनचुम्बी हिमाच्छादित पर्वत शिखर संसार के पर्वतारोहियों को चुनौतीपूर्ण आह्वान देते हैं। जैसे पूर्व में वर्णित है, पर्वतारोही ही नहीं, साहसिक खेल प्रेमियों, पथारोहियों, प्रकृतिवादियों, पर्यटकों, तीर्थयात्रियों, भू-वैज्ञानिकों, भू-गर्भ शास्त्रियों, अनुसन्धानकर्ताओं, मानव विज्ञानियों, पुरातत्ववेदियों आदि के लिये भी यह आकर्षण, चुनौती, खोज और जिज्ञासा का विशेष केन्द्र बिन्दु रहा।

हिमालय की भव्यता, छटा और अप्रतिम सौन्दर्य ने अनेक काव्यकारों को भी अभिभूत और मोहित किया। प्रकृति और पर्वतों के अनन्य उपासक

कुमाऊँ-गढ़वाल में पहाड़ अनेक; अन्तर्मन, दिल धड़कने और दर्द एक

कविकुलगुरु कालिदास ने कुमारसम्भव के प्रथम सात श्लोकों में हिमालय की विशिष्टता, दिव्यता आदि का विवरण दिया। प्रारंभिक श्लोक में ही इसे 'देवतात्मा', 'नगाधिराज', 'पृथ्वी का केन्द्रबिन्दु-मानदंड' आदि विशेषणों से विभूषित किया है-

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्यः स्थितः पृथिव्य इव मानदण्डः।।

कुमारसम्भव का समस्त कथानक हिमालय पर्वत के आसपास गुम्फित है। मेघदूत का नायक कैलास पर्वत और उसके सन्निकट अलकापुरी में विश्राम पाता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सप्तम अंक में हिमालय के ही एक भाग 'हेमकूट' पर्वत पर नायक-नायिका का पुनर्मिलन होता है। रघुवंश के प्रथम और द्वितीय सर्ग की कथा का सम्बन्ध गोमुख के निकटवर्ती क्षेत्र से है। सदियों से काव्यकारों ने हिमालय का दैवीकरण और मानवीकरण करते हुए उसे अनेक उदात्त गुणों, बिम्बों, उपमानों और प्रतीकों से विभूषित किया। कालिदास की कल्पना ने शैलराज को शंकर का 'राशीभूत अट्टहास' ('राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्रयम्बकस्याट्टहासः' -मेघदूत), माना तो चन्द्रकुँवर बर्त्वाल ने 'भस्म विभूषित नग्न कलेवर' देवाधिदेव को 'देखा था बैठे हिमगिरि पर, डमरू था मौन/भूमि पर गड़ा था, चमक रहा उज्ज्वल त्रिशूल'। छायावाद के दो स्तम्भ-पर्वतपुत्र सुमित्रानन्दन पंत और नीरभरी दुःख की गगरी महादेवी वर्मा ने हिमालय की उपत्यकाओं - कौसानी और रामगढ़-को अपना आलय बनाकर अमर काव्य सृजित किये। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने हिमालय को 'भारत का भाल' मानते हुए हुए 'मेरे नगपति, मेरे विशाल' आदि सम्बोधनों द्वारा गिरिराज के प्रति आत्मीयता, श्रद्धा, प्रशंसा और भय मिश्रित आदर भाव व्यक्त किए। भावुक कविगण ही नहीं अनेक निबन्धकार भी हिमालय की महिमा, गरिमा और विराटत्व से अभिभूत हुए बिना न रह सके। हिन्दी के वाणभट्ट माने जाने वाले, शुष्क-गम्भीर साहित्य के प्रणेता आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी हिमराज की कान्ति तथा शान्तिदाय शक्ति से अति प्रभावित थे।

इतिहासकार, यायावर, यात्रा-साहित्य-प्रणेता, घुमक्कड़ आदि प्रबुद्ध

लेखक हिमालय के वैभव, रंगत, ललाम और पराभव से वशीभूत हुए। इतिहासकारों के आदि पुरुष ग्रीस के हेरोडोटस (484-425 ई.पू.) ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्रीज' में ग्रीस-परशिया के अनवरत आपसी युद्धों का विवरण देने के अतिरिक्त 'इंडीज' (भारत), जिसकी पुराणों के अनुसार तत्कालीन उत्तरी पश्चिमी सीमा वालहीक-गांधार तक फैली हुई थी, की सभ्यता-संस्कृति तथा इस क्षेत्र के पर्वतीय भागों हिन्दूकुश-हिमालय की प्रशंसा में लिखा। मेगस्थनीज के 'हिमक्षेत्र' विषयक विवरण रोचक हैं। बौद्ध धर्म की पोथियों के अध्ययनार्थ आए चीनी यात्री युवान च्वांग, फाहियान आदि ने भारत आते-जाते मार्ग में पड़ने वाले पर्वतीय भागों का भी वर्णन किया है। यायावर साहित्य के पुरोधा राहुल सांकृत्यायन की कई पुस्तकें, यथा- तिब्बत में सवा वर्ष, मेरी तिब्बत यात्रा, मेरी लद्दाख यात्रा, किन्नर देश में, हिमालय परिचय, दार्जिलिंग परिचय, कुमायूँ, गढ़वाल, नेपाल तथा अन्य हिमालय प्रदेशों से सम्बन्धित हैं। बैरनकृत 'वांडरिंग इन द हिमाला', शेरिंग का 'वेस्टर्न तिब्बत एंड ब्रिटिश बार्डरलैंड', जोधसिंह रचित 'हिमालयन ट्रेवल्स, स्वामी प्रणवानन्द की कृति 'कैलास-मानसरोवर' आदि ग्रंथों में हिमालय-परिवेश की सतरंगी आभाएँ झलकती हैं।

देव तुल्यं नराणाम

लगभग सभी संस्कृतियों की यह मान्यता है कि पर्वतों में देवी-देवताओं की आत्मा का वास ही है। इसीलिए कालिदास ने हिमालय को 'देवतात्मा' से सम्बोधित किया। कैलास-मानसरोवर, बदरीनाथ, पंचकेदार, अमरनाथ, वैष्णोदेवी, नरनारायण पर्वत, चंडी, शाकुम्भरी, मनसा आदि देवीस्थल, जागेश्वर, बागेश्वर, पूर्णागिरि, बिनसर; मध्यदेश के विंध्याचल, अमरकंटक, तिरुमला आदि अनेक पर्वत-शाखाएँ विभिन्न आराध्य देवों के नाम पर या उनसे सम्बद्ध हैं। पांडवबन्धुओं ने बदरीनाथ 'सतोपंथ' के मार्ग से ही स्वर्गारोहण किया था। सुप्रसिद्ध दार्शनिक, ब्रह्मवाद के प्रचारक और अद्वैतमत के पोषक आदि गुरु शंकराचार्य का चिन्तनस्थल, मनु, व्यास, वाल्मीकि की कालजयी रचनाओं का प्रेरणास्रोत तथा अनेक आचार्यों, मनस्वियों, तत्त्व चिन्तकों, ऋषि-मुनियों की तपस्थली एवं कई धर्म-दर्शन ग्रंथों की सृजन भूमि भी हिमप्रदेश गढ़वाल-कुमायूँ की उपत्यकाएँ ही थीं। वास्तव में भारत की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक अवधारणा, धार्मिक चेतना, ज्ञान और उपासना तथा आस्तिक जीवन-दर्शन को

कुमाऊँ-गढ़वाल में पहाड़ अनेक; अन्तर्मन, दिल धड़कने और दर्द एक

सिंचित और संचित करने में पर्वत प्रदेश अजस्र सारस्वत स्रोत रहे हैं। इसीलिए विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, गुरु गोविन्द सिंह, महात्मा गाँधी आदि ने भी अपनी साधना के लिए कुमाऊँ-गढ़वाल की स्वर्णिम, सुरम्य और शान्त वादियों का चयन और वरण किया था। मुसलमानों के लिए पूज्य तुर्किस्तान स्थित माउंट अरारात की महत्ता का जिक्र पीछे किया जा चुका है।

प्राणदायक ही नहीं, प्राणनाशक भी; वरदान ही नहीं, अभिशाप भी

कुमाऊँ-गढ़वाल के पर्वत इस क्षेत्र के लिए सीमा-निर्धारण का आधार और इस प्रकार सदा सजग और अजेय प्रहरी का दायित्व-निर्वहन भी करते हैं। हिमालय की तुषाराच्छादित पर्वत मेखलाएँ भारत की उत्तरीय सीमा के नैसर्गिक रक्षक हैं। इस पक्ष को वायुपुराण में निम्न श्लोक से रेखांकित किया गया है :-

**उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्
वर्षम् तद् भारत नाम भारती यत्र सन्तति।**

भारत की उत्तर पश्चिमी तथा पूर्वी सीमा पर 1962 के चीनी आक्रमण में नेफा (अरुणाचल) के सेला दर्रे (ऊँचाई 14,600 फीट) के समीप नूरानंग के युद्ध में 17 नवम्बर 1962 को चौथी गढ़वाल रेजीमेंट के 3 अफसर, 4 जे.सी.ओ., 7 एन.सी.ओ. और 167 जवानों को मुख्यतः बर्फ से आच्छादित विषम भौगोलिक परिस्थितियों में चीनियों को 72 घंटे तक रोकने के पश्चात् अन्ततः आत्माहुति देनी पड़ी थी। इनमें सर्वोच्च बलिदानी जसवन्त सिंह भी था, जिनके नाम पर उस स्थल को अभी भी 'जसवन्तगढ़' कहा जाता है। उस वीर सैनिक का बंकर और बिस्तर उसी स्थल पर निर्मित प्रेरणास्रोत स्मारक के समीप अभी भी सुरक्षित है। सन् 1962 के इसी युद्ध में लद्दाख के चुसूल क्षेत्र में चीनी आक्रमण को रोकने में 13 कुमाऊँ रेजिमेंट के पराक्रमी शूरवीरों ने अपूर्व वीरता, त्याग और युद्ध-क्षमता का परिचय दिया, जिसमें एक कम्पनी के समस्त अफसर और जवान (लगभग 160) शहीद हो गए थे। चुसूल में निर्मित 'कुमाऊँ स्मारक' अभी भी कुमाऊँ के उन वीर सैनिकों के महानतम बलिदान की याद दिलाता है। इतिहास के पृष्ठों में इस प्रकार की अनेक हृदय

विदारक घटनाएँ अंकित हैं, जो प्रमुखतः पहाड़ों की विषम भौगोलिक परिस्थिति जनित थीं। विश्व के सबसे ऊँचे युद्ध क्षेत्र सियाचीन ने अनेक युद्धवीरों को जीवनपर्यन्त अपंग बना दिया। कारगिल के बर्फीले पठारों की रक्षा के लिए प्राणों की आहुति देने वाले शहीदों की चिताओं की भस्म अभी तक टंडी नहीं हुई है।

युद्धों के अतिरिक्त पर्वतारोहण, पथारोहण, पर्यटन आदि साहसिक कार्यकलापों में भी कई व्यक्तियों ने प्राण गँवाए। अकेले माउंट एवरेस्ट पर चढ़ने का प्रयास करते समय अनेक युवा आरोही बर्फ की गर्तों में अभी समाधिस्थ हैं। इस अभियान को सन् 1921 में सर्वप्रथम प्रारम्भ करने वाले ज्यॉर्ज मैलोरी का स्मरण विस्मय और श्रद्धा सहित लिया जाता है जो अपने सह-आरोही एन्ड्र्यू इरवीन सहित अपने तीसरे प्रयास में सन् 1924 को सर्वोच्च शिखर बिन्दु से कुछ दूरी पूर्व तक देखे गए थे। परन्तु उसके पश्चात् उनका कई वर्षों तक नामोनिशान भी नहीं मिल पाया। मैलोरी का शव तो 75 वर्ष बाद प्रकट हो गया, परन्तु इरवीन का शव अब तक गहन बर्फ में कहीं दबा है जो अनेक प्रयासों के पश्चात् भी अभी तक नहीं मिल पाया। इसी क्रम में उत्तराखण्ड के साहसी वीर सपूत दो युवा सैन्य अधिकारी बहुगुणा बन्धुओं- हर्ष वर्द्धन और जयवर्द्धन- के नाम विशेष रूप से श्रद्धापूर्वक स्मरणीय हैं, जिन्होंने इन्हीं अभियानों में अपने प्राणों की आहुति दी। मैलोरी, इरवीन तथा हर्ष-जय बहुगुणा बन्धु सदृश कई अन्य आज भी पर्वतारोहण के इतिहास में मिथक हैं।

सर्वविदित है कि 9000 फीट से ऊपर पर्वतीय क्षेत्रों में ऑक्सीजन की कमी रहती है। वहाँ फेफड़ों को ताजी हवा अपेक्षाकृत अधिक चाहिए। प्रकृति वहाँ आकर्षक और सुन्दर नहीं, अति डरावनी, भयावह एवं दिल दहलाने वाली लगती है। ऊँची चोटियों पर चढ़ना ही नहीं, उनसे उतरना भी कम खतरनाक नहीं। पर्वत शिखरों पर आरोहण-अवरोहण के प्रयास में कितने आरोहियों, शेरपाओं, भार-वाहकों, बोझियों आदि ने अपनी जाने गँवाई, कितने अपंग हुए, इसका चित्रण जीवन भर के लिए व्हील चेयर पर आश्रित मेजर अहलुवालिया तथा उन्हीं के समान कई भुक्तभोगी ही कर सकते हैं। इस दृष्टि से पहाड़ों को अभिशाप नहीं तो क्या कहेंगे?

गढ़वाल-कुमाऊँ के पहाड़ों में होने वाले हिमस्खलन, बर्फानी झंझावात, तूफान, बर्फीले अंधड़, भूस्खलन, भूक्षरण, भीषण वन-अग्नि, उचित सड़कों

कुमाऊँ-गढ़वाल में पहाड़ अनेक; अन्तर्मन, दिल और दर्द एक

का अभाव, उनके रखरखाव में कमी और अव्यवस्था, सर्पाकार सँकरी सड़कों पर आए-दिन होने वाली प्राणलेवा गम्भीर दुर्घटनाएँ, पूरी की पूरी बसों, जीपों या अन्य वाहनों का सैकड़ों फीट नीचे घाटी में गिर जाना आदि दर्दनाक और दिल दहलाने वाली खबरें अखबारों में छपती रहती हैं। पशुओं के लिए घास काटने अथवा भोजन बनाने के लिए लकड़ी काटने गई महिलाओं की भयंकर पठार से फिसल कर फिसलने-गिरने की हृदय विदारक चीख और चीत्कार की गूँज का स्मरण कर शरीर में सिहरन होती है। पर्याप्त उपचार व्यवस्था का अभाव, डॉक्टर और नर्सों की कमी असंख्य पहाड़ियों को भाग्य के भरोसे पर छोड़ देता है। यहाँ के पहाड़ों में श्मशान तो निकट हैं परन्तु अस्पताल अति दूर। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि केवल वर्ष 1995 में ही उत्तराखण्ड में भीषण वन-अग्नि से 15 करोड़ की क्षति हुई थी, जिसको बचाने के लिए सरकार ने 8 करोड़ रुपए व्यय किए।

कुमाऊँ-गढ़वाल स्थित कुछ हिमालयी क्षेत्र की भूकम्पनीयता रेक्टर स्केल पर 7, 8, 9 आँकी गई हैं। भयंकर भूकम्प, पहाड़ों का रड़ना, दरकना, नदियों का कटना, विध्वंसक बाढ़, ज्वालामुखी, इन क्षेत्रों में सामान्य है। पुराणों में प्रलय की कथाएँ हैं, परन्तु हिमालयी क्षेत्र में तो हर साल ही प्रलय होते हैं। प्राकृतिक आपदाएँ पहाड़वासियों का भाग्य और नियति हैं। कैलास-मानसरोवर यात्रा मार्ग में 2018 मीटर की ऊँचाई पर स्थित मालपा पहाड़ी अगस्त 1998 की त्रासदी 60 यात्रियों को लील गई। घोड़े, खच्चर तथा गायों को मिलाकर 92 जानवर मारे गए। इसी प्रकार 11 अगस्त 1998 को जोशीमठ, चमोली के निकट 9000 फीट की ऊँचाई पर स्थित 32 ग्राम-सभाओं में भूस्खलन जनित भारी तबाही के फलस्वरूप 180 ग्रामीणों तथा लगभग 2000 पशुओं की अकाल मृत्यु तथा करोड़ों रुपए की सम्पदा नष्ट हो गई। क्षेत्र में हाहाकार मच गया। यहाँ प्रकृतिजन्य त्रासदी की केवल दो घटनाएँ दी गई हैं। इस प्रकार की भीषण तबाहियों का एक लम्बा चिट्ठा है। यह भविष्य में भी होता रहेगा। पहाड़वासियों को तो दिन प्रतिदिन प्रकृति के रुष्ट रूप का ताण्डव बार-बार देखना और भोगना पड़ता है साथ ही उनके भयावह परिणामों को विरक्त भाव से सहना पड़ता है।

कुमाऊँ-गढ़वाल परिक्षेत्र में असंख्य उड्यार (गुफाएँ) और कन्दराएँ हैं, जिनमें से कुछ तो अति गहन हैं। पुराकाल में इनका उपयोग चिन्तन, मनन

ब्रह्म जिज्ञासा और ध्यान के लिए किया जाता था। कई अमूल्य धर्मग्रंथ और स्मृतियों की रचना यहीं हुई। मध्यकाल में युद्ध में परास्त सैनिकों, भगोड़ों तथा आतताइयों द्वारा प्रताड़ित-पीड़ितों के लिए ये सुरक्षित शरणस्थल सिद्ध हुए। परन्तु इसी क्रम में कुछ असामाजिक और अवांछनीय तत्त्वों ने कानून के लम्बे हाथों से बचने के लिए इन्हें अब अपना आरामगाह बनाना प्रारंभ कर लिया है।

सुलगते सवाल, उलझते जवाब

सामान्यतः सभी पहाड़ियों की नियति में पहाड़ जैसी मुसीबतों और चुनौतियों का सामना करना सामान्य है। प्रकृतिजन्य विषम परिस्थितियाँ, संघर्षमय और कष्टकारी जीवन, संसाधनों की न्यूनता तथा अनुपलब्धता, समृद्धि और प्रगति के अवसरों का अभाव आदि का दर्द सभी पर्वतजनों को प्रतिपल सताता रहा है। वैसे तो दुनिया के लगभग सभी पहाड़ दुर्गमता, एकाकीपन और सम्पर्कहीनता का दंश झेल रहे हैं। परन्तु, गढ़वाल-कुमाऊँ क्षेत्र में यह त्रासदी अधिक लक्षित है। ऐसी स्थिति में या तो यहाँ के निवासी बेहतर अवसरों की तलाश में अपने आवास और पुरखों की विरासत को त्यागकर अच्छे अवसरों की खोज में अन्यत्र प्रवर्जन करने के लिए बाध्य हैं या मजबूरी में वहीं रहकर प्रकृति के प्रकोप और रुष्ट रूप का सामना करते हैं। प्राकृतिक सम्पदा के साथ रहते हुए भी अधिकांश पर्वतजन कष्ट और विपन्नता की चादर ओढ़ने के लिए विवश हैं। मात्र प्राकृतिक सुषमा और सौन्दर्य को निहारते रहने से पेट की ज्वाला शान्त नहीं हो सकती।

कम विकसित और सुविधाहीन क्षेत्रों से अधिक सम्पन्न एवं विकसित क्षेत्रों की ओर भागने की वृत्ति अस्वाभाविक नहीं है। गढ़वाल-कुमाऊँ क्षेत्र में यह प्रवृत्ति सन् 1800-1815 के गोरखों के क्रूरतम शासनकाल की विभाषिका से प्रारम्भ हुई। तब से विभिन्न प्रचार-माध्यमों, संगठनों और सरकारों के प्रयासों के बाद भी यह सिलसिला बन्द होता या घटता नहीं दीखता। यह दिन-प्रतिदिन बढ़ ही रहा है। उत्तराखण्ड राज्य बनने के बावजूद रोजी-रोटी की खोज में केवल 2008 के अन्तिम चार महीनों में 32 हजार लोगों द्वारा पहाड़ छोड़ने का रिकार्ड प्रकाशित है। यह कटु सत्य है कि जब तक स्थानीय स्रोतों और संसाधनों पर आधारित आय के साधन नहीं बढ़ेंगे, मैदानों की ओर भागने की प्रवृत्ति थम नहीं

कुमाऊँ-गढ़वाल में पहाड़ अनेक; अन्तर्मन, दिल और दर्द एक

सकती। अलाभकर जोतों की असिंचित तथा वर्षा-आधारित भूमि पर केवल कृषिकार्य आर्थिक विकास का आधार नहीं हो सकता। प्रवास से आने वाले सीमित धनादेश भी परिवारों को सम्मानजनक जीवन-यापन के लिए पर्याप्त नहीं हैं। कुमाऊँ-गढ़वाल क्षेत्र की घाटियों में विभिन्न प्रकार के लाभकारी उत्पाद की अपार सम्भावनाएँ हैं। यहाँ की जमीन को जवानी (युवकों) के लिए यदि लाभकारी बनाना है तो जमीन का उचित परीक्षणोपरान्त यह मालूम किया जाय कि उसमें कौन से उत्पाद सम्भव हैं। दो प्रदेशों की भूमि से वही उत्पाद या फसलें पैदा नहीं हो सकते। स्कॉटलैंड की घाटियों में लगभग सभी अनाज पैदा किया जाता है। यूरोप के हंगरी, बेल्जियम, जर्मनी, फ्रांस, स्विटजरलैंड आदि सभी देशों की पहाड़ी ढलानों पर लगाए गए हरे-भरे 'विनयार्ड' (वाइन बनाने में सहायक अंगूर आदि पौधे) पर्यटकों को मोहित ही नहीं करते, वरन् वहाँ की आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ भी बनाते हैं।

कुमाऊँ-गढ़वाल क्षेत्र की स्थायी संपदा- जमीन, जवानी, जल और जंगल- के उचित प्रयोग पर विभिन्न मंचों, लेखों और शोध-अभिलेखों में चर्चा होती रहती है। यह सत्य है कि स्थानीय संसाधनों के भरपूर उपयोग और औचित्यपूर्ण तथा विवेकशील दोहन से यहाँ का आर्थिक एवं औद्योगिक विकास और तदनुसार प्रवर्जन को थामना सम्भव है। बड़े बाँधों के स्थान पर छोटे-छोटे कई बाँध, भौगोलिक स्थिति के अनुसार सड़के, रेल मार्ग, संचार व्यवस्था, रोजगारपरक शिक्षा, स्थानीय कच्चे माल पर आधारित कुटीर और मध्यम आकार के उद्योगों को प्रोत्साहित करने तथा विपणन की व्यवस्था से सुनियोजित आर्थिक विकास निश्चिततः पलायन को थामने में सहायक होंगे। यूरोप के स्विटजरलैंड जैसे कई देशों में सड़कों की ढलान या चढ़ान की मात्रा को यथासम्भव एक ही स्तर पर रखने के लिए या तो घाटियों से सशक्त ऊँचे पिलर उठाकर लम्बे पुल बनाए गये हैं या पहाड़ों के अन्दर सुरंगें। कई सुरंगें तो 20-25 कि०मी० लम्बी हैं! वहाँ 11000 फीट से ऊँचे यूफ्राँ पर्वत चोटी तक कॉर्गिंग सिस्टम से रेल चलाई जाती है। अन्यत्र आरामदायक ट्रालियाँ हैं। परन्तु सरकार मध्य हिमालयी क्षेत्र में इस प्रकार की संभावना नहीं समझती। यातायात की सुविधा में वृद्धि, अन्तर्राष्ट्रीय मानकों पर निर्मित होटलों आदि से पर्यटन बढ़ेगा, औद्योगीकरण को गति मिलेगी, विकास में तीव्रता आएगी, रोजगार के अवसर मिलेंगे, क्षेत्र समृद्ध होगा और अवश्यमेव थमेगा पलायन।

उपर्युक्त के अलावा एक अन्य महत्वपूर्ण ध्यान देने योग्य बात। गढ़वाली-कुमाउँनी जन सामान्यतः नौकरी मूलक, नियमित रूप किये जाने वाले, समय-बद्ध वेतनभोगी कार्य पसन्द करते हैं। उनमें स्वरोजगार या अपने उद्यम या उद्योग में रुचि और पहल करने के अभिलक्षण कम मिलते हैं, क्योंकि इनके लिए खतरा या जोखिम उठाना तदजनित सम्भावित नुकसानदेह स्थिति का सामना करने की क्षमता या प्रवृत्ति होनी चाहिए। अतः कुमाउँनी-गढ़वाली लोगों में इस प्रवृत्ति को जगाना वांछनीय ही नहीं, आवश्यक होगा। उत्तराखंड सरकार ने प्रदेश में उद्योग लगाने के लिए कई राहतेँ और छूट दी हैं, परन्तु अफ़सोस है कि इसका लाभ मैदानी क्षेत्र ही अधिक उठा रहा है।

ह्रास और विलुप्ति

अर्थशास्त्र का एक नियम है कि नयी करेंसी पुरानी करेंसी को विलुप्त कर देती है। इधर वैश्वीकरण, बाजारवाद, सूचना-प्रौद्योगिकी में विकास, उपभोगवाद और आधुनिकता की अन्धी, विवेकहीन दौड़ में पर्वतजनों की मूल आध्यात्मिकता, सांस्कृतिक अवधारणा, धार्मिक चेतना, आस्तिक जीवन-दर्शन की विविध छटाएँ ह्रासोन्मुख दीखती हैं। उत्तराखंड की कला, संस्कृति, साहित्य, भाषा और कुछ बोलियाँ विलुप्ति के कगार पर खड़ी हैं। यहाँ के लोकविश्वास, लोकगीत, लोकगाथाएँ, लोकव्यवहार, संगीत, कलाएँ, वाद्य यंत्र, खानपान, जीवन-शैली, व्यावहारिक शिष्टता, आचारगत पवित्रता आदि पाश्चात्य प्रभाव से पीड़ित हैं। यह सत्य है कि युगानुरूप अपने को ढालने में अक्षम समाज अन्ततः अलग-थलग पड़ जाता है। परन्तु इस प्रयास में कहीं अपनी विशिष्ट पहचान और अस्मिता ही विलुप्त न हो जाय।

संस्कृति का अविच्छिन्न अंग भाषा है। वैसे तो समस्त विश्व की पर्वतीय भाषाएँ अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्षरत हैं, परन्तु मध्य हिमालय क्षेत्र की दो प्रमुख भाषाएँ - गढ़वाली और कुमाउँनी का भविष्य चिन्तनीय है। दुनिया भर की समस्त भाषा और बोलियों का वैज्ञानिक पद्धति पर विधिवत् विवरण रखने वाली एक मात्र संस्था अमेरिका स्थित 'समर इंस्टिट्यूट' के अनुसार समस्त संसार की लगभग 6800 क्षेत्रीय भाषाओं/बोलियों में से आधी अगले 40-50 वर्षों में विलुप्त हो जाएँगी। इनमें से अधिकांश पर्वतीय क्षेत्रों की लगभग 500 बोलियाँ मरणासन्न हैं। यदि समयान्तर्गत कोई

कुमाऊँ-गढ़वाल में पहाड़ अनेक; अन्तर्मन, दिल और दर्द एक

ठोस और कारगर उपाय नहीं किए गए तो कुमाऊँनी तथा गढ़वाली भाषाएँ भी अगली पीढ़ी तक अस्तित्वहीन हो जाएँगी। यूनेस्को द्वारा प्रकाशित 'एटलस ऑव लैंग्वेजेज़ इन डैँजर' में उत्तराखंड की गढ़वाली और कुमाऊँनी की कुछ बोलियाँ भी सम्मिलित हैं। पिथौरागढ़ जनपद की रौंगपा, तोलचा, रडका बोलियों का तो अब नाम लेना भी नहीं मिलता। उत्तरकाशी के उत्तर पश्चिमी भूभाग की 'बंगाणी' बोली लुप्तप्राय है। यही स्थिति पिथौरागढ़ की दारमा तथा वियांसी बोलियों की भी है। उक्त एटलस में जौनसारी को भी विलुप्त होने वाली बोलियों की श्रेणी में रखा गया है। इस ह्रासोन्मुखता और विलुप्तीकरण की रोकथाम के लिए कारगर कदम उठाने पड़ेंगे।

इसी प्रकार समस्त भारत में पाई जाने वाली लगभग एक लाख वनस्पति-प्रजातियों और वन्य जीव-जन्तुओं में से आधी प्रजातियाँ केवल गढ़वाल-कुमाऊँ के हिमालयी क्षेत्र में हैं। किन्तु यह दुखद स्थिति है कि इनमें से कुछ विलुप्ति के कगार पर हैं। लगभग चौथाई दुर्लभ वनस्पति और वन्यजीव संकटग्रस्त हैं। कुछ तो करना पड़ेगा।

निष्कर्ष

समग्रतः कुमाऊँ-गढ़वाल में स्थित पहाड़ आडम्बरहीन जीवन की सुष्मिता, स्वच्छता, भव्यता और उदात्तता तथा वैश्विक चेतना के प्रतीक हैं। देश, काल, भाषा और जाति की सीमाओं को लाँघकर समस्त पहाड़ सार्वदेशिक और सार्वकालिक भावना से विश्व की साझा-संस्कृति, समन्वयवाद, अनेकता में एकता, (जयशंकर प्रसाद कृत कामायनी के शब्दों में 'एक तत्त्व की ही प्रधानता',) समरूपता, सादगी तथा एक निश्छल, शुभ्र, श्रमशील और आडम्बरहीन जीवन-पद्धति का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए गढ़वाल-कुमाऊँ पर्वत देवतुल्य माने गए हैं। इनके देवत्व का मानव हित में व्यापक और सही उपयोग मानव ही कर सकता है। आइए, हम सभी पर्वतजन एकनिष्ठता और आशावादिता के साथ इस देवभूमि की स्वर्गतुल्यता की पुनर्स्थापना में अपना योगदान अर्पित करें। संघर्ष करने की प्रवृत्ति तो पहाड़वासियों की रग-रग में विद्यमान होती है।



संवैधानिक प्रावधानों में उलझती प्रमुख उत्तराखंडीय भाषाएँ

भारत में भाषाएँ और बोलियाँ

स्वातंत्र्योत्तर भारत में प्रत्येक दस वर्ष बाद राष्ट्रीय स्तर पर जनगणना करवाई जाती है, जिसमें देश के नागरिकों द्वारा व्यवहृत भाषा-बोलियों के आँकड़े भी एकत्र होते हैं। जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने अपने सुप्रसिद्ध भाषा सर्वेक्षण में 1891, 1901 तथा मुख्यतः 1921 की जनगणना को अपने सर्वेक्षण का आधार बनाया था, जिसमें 1894 से 1927 तक लगभग 33 वर्ष लगे थे। इस सर्वेक्षण में तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत आने वाले भारत, अफगानिस्तान, वर्तमान पाकिस्तान, बाँग्लादेश, बर्मा (म्याँमार) और श्रीलंका में प्रयोग की जाने वाली 179 भाषाएँ और 544 बोलियाँ सम्मिलित हैं।

सन् 2001 में संपन्न जनगणना के भाषा- बोली विषयक आँकड़ें, अभी तक प्रकाश में नहीं आए हैं। अतएव अधिकांश भाषाविद् इस दशक के पूर्व अर्थात् सन् 1991 में की गई जनगणना के आँकड़ों को ही अपने विश्लेषण का आधार बनाते रहे हैं, जिसके अनुसार भारत में इस समय 114 भाषाएँ एवं 216 बोलियाँ-उपबोलियाँ व्यवहार में लाई जाती हैं, जो अग्रलिखित चार भाषा-परिवारों से सम्बद्ध हैं-

1. भारतीय आर्य परिवार-19 भाषाएँ
2. द्रविड़ परिवार-17 भाषाएँ
3. ऑस्ट्रोएशियाई परिवार-14 भाषाएँ
4. तिब्बती बर्मी परिवार-62 भाषाएँ

उपर्युक्त के अतिरिक्त भारत में कुछ जर्मन परिवार तथा सेमिटो-हेमेटिक परिवार की भाषाएँ भी हैं, जिनमें अंग्रेजी तथा अरबी-फारसी भाषाएँ आती हैं।

भाषा संबंधी संवैधानिक प्रावधान

भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित किए जाने के लिए पिछले कुछ वर्षों से, भारत की कुछ अन्य भाषाओं के अतिरिक्त उत्तराखंड

संवैधानिक प्रावधानों में उलझती प्रमुख उत्तराखंडीय भाषाएँ

की दो प्रमुख भाषाओं-कुमाउँनी और गढ़वाली की भी चर्चा विभिन्न संचार माध्यमों और मंचों में पढ़ने-सुनने को मिल रही है। ध्यातव्य है कि आठवीं अनुसूची का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 344(1) एवं अनुच्छेद 351 में वर्णित है। अनुच्छेद 344(1) में संविधान के कार्यान्वित होने के पाँच वर्ष की अवधि की समाप्ति के पश्चात् एक आयोग के गठन का प्रावधान है जिसमें एक अध्यक्ष तथा आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भाषाओं के प्रतिनिधि सदस्य रहते हैं। यह आयोग भारतीय संघ के सरकारी कामकाज में हिन्दी के प्रयोग विषयक आवश्यक सिफारिशें भारत राष्ट्रपति को समय-समय पर देते रहने की व्यवस्था है।

अनुच्छेद 351 के अनुसार आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भाषाओं से शब्द-ग्रहण करते हुए हिन्दी भाषा के प्रसार-प्रचार करने तथा उन भाषाओं की शब्दावली, पदों एवं उनमें प्रयुक्त शैलियों को अपने में अन्तर्भुक्त करने का उल्लेख है।

संविधान द्वारा मान्यता दिए जाने का क्रम

संविधान निर्माताओं ने सर्वप्रथम राष्ट्रीय स्तर पर अष्टम अनुसूची में 13 भाषाएँ (संस्कृत, हिन्दी, कश्मीरी, पंजाबी, मराठी, गुजराती, मलयालम, तमिल, तेलगु, कन्नड़, बंगला, उड़िया, असमिया) सूचीबद्ध की थीं। कहा जाता है कि जब तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू को यह सूची दिखाई गई तो वे क्रोध से तिलमिला उठे। वे झल्लाकर बोले कि इसमें उर्दू भाषा क्यों नहीं है? यह तो मेरे दादा-दादी की भाषा है! बस फिर क्या था। नेहरू का प्रतिरोध करने की किसी में भी हिम्मत नहीं थी। पूर्णतः भाषिक विषय पर भी नेहरू जी की नितान्त अभाषावैज्ञानिक 'दादा-दादीगिरी' अपना काम कर गई और उर्दू को 14वीं भाषा के रूप में सम्मिलित करना पड़ा। वास्तव में देखा जाय तो अभी तक भी प्रायः किसी भाषा को संविधान की आठवीं सूची में सम्मिलित किए जाने के संदर्भ में राजनीतिक हस्तक्षेप एवं प्रभाव विशेष कारगर सिद्ध होता रहा है।

कालान्तर में 31 वें संशोधन द्वारा सन् 1967 में सिंधी के जुड़ने से यह संख्या पन्द्रह तथा 71 वे संशोधन के पश्चात् सन् 1992 में कोंकणी, नेपाली, मणिपुरी को शामिल किए जाने पर अट्ठारह तक पहुँच गई। सन् 2003 में पुनः संशोधनोपरान्त सूची में बोडो, संथाली, डोगरी तथा मैथिली को

जोड़ने के फलस्वरूप यह संख्या अब बाईस हो गई है। पिछले कई वर्षों से भाषा-संबंधी उथल-पुथल के बाद भी यह संख्या बाईस पर ही स्थिर है।

उल्लेख्य है कि संविधान की आठवीं सूची में सम्मिलित किए जाने के लिए प्रत्येक बार संविधान में संशोधन किया जाता है।

उपर्युक्त 22 भाषाओं के अतिरिक्त आठवीं अनुसूची में शामिल किए जाने के लिए अभी भी अन्य 36 भाषाएँ लंबित हैं, जिनमें उत्तराखण्डीय दोनों मुख्य भाषाएँ-कुमाउँनी और गढ़वाली सहित, भोजपुरी, राजस्थानी, मगही, बंजारा, हिमाचली, शौरसेनी, नागपुरी, कुरमाली आदि भी हैं। इधर कुछ विगत महीनों से भोजपुरी को सम्मिलित किए जाने के लिए प्रबल राजनीतिक और मीडियायी प्रभाव डालने के समाचार मिल रहे हैं। राजस्थानी के पक्ष में भी यदा-कदा समर्थन के स्वर सुनाई देते हैं।

संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित किए जाने संबंधी मापदंड

अष्टम अनुसूची में किसी भाषा को सम्मिलित करने लिए संविधान में अलग से कोई निश्चित मापदंड निर्धारित नहीं किए गए हैं। कभी-कभी पत्र-पत्रिकाओं अथवा मंचों पर पढ़ने-सुनने को मिलता है कि अनुसूची में शामिल किए जाने के लिए संबंधित भाषा की अलग लिपि होनी चाहिए। इसी का मुद्दा बनाकर कुमाउँनी-गढ़वाली के लिए भी इसी के हितार्थ एक नई लिपि के 'आविष्कार' या 'निर्माण' की कुछ लोग वकालत करते रहते हैं। उनके एतद् विषयक भ्रम व अज्ञान को दूर करने के लिए उल्लेख है कि संविधान में ऐसी कोई बंदिश नहीं है। इस संदर्भ में ज्ञातव्य कि आठवीं सूची में सम्मिलित कोंकणी एवं नेपाली की लिपि हिन्दी भाषा के समान देवनागरी है, कोई स्वतंत्र या भिन्न लिपि नहीं। इसी प्रकार वर्ष 2003 में शामिल डोगरी, बोडो तथा मैथिली भाषाओं की लिपि भी देवनागरी ही है।

लिपि के अतिरिक्त, संबद्ध भाषा के बोलने वालों की संख्या 10 लाख से ऊपर होना, उसमें व्याकरण और शब्दकोश की उपस्थिति, समृद्ध साहित्य का होना आदि अनेक परिकल्पित मापदंडों की अनिवार्यता गिनाई जाती है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है आठवीं सूची में सम्मिलित किए जाने के लिए संविधान में अभी तक कोई भी मापदंड निश्चित नहीं किया गया है।

संवैधानिक प्रावधानों में उलझती प्रमुख उत्तराखण्डीय भाषाएँ

आठवीं अनुसूची में सम्मिलित भाषाओं को उपलब्ध लाभ

1. माध्यमिक स्कूल स्तर (8वीं कक्षा तक) शिक्षा के माध्यम की सुविधा अनुसूची में सम्मिलित भाषा में सरकार द्वारा उपलब्ध कराई जाएगी।
2. संघ लोकसेवा आयोग की सिविल सर्विस परिक्षाओं में प्रतिभागियों को अनुसूची में सम्मिलित भाषा के प्रयोग के लिए कई सुविधाएँ दी गई हैं। 'क्वालिफाइंग भाषा' के लिए वे अनुसूची में से किसी भी एक भाषा का चयन कर सकते हैं। लिखित परीक्षा के लिए भी यह सुविधा उपलब्ध है। साक्षात्कार के माध्यम के लिए भी कुछ औपचारिकताओं के निर्वहन के पश्चात् प्रतिभागी को लिखित परीक्षा वाली भाषा के प्रयोग की अनुमति प्रदान की जा सकती है। एतदर्थ लोक सेवा आयोग द्वारा लोकसभा या राज्यसभा से संबद्ध भाषा के इंटरप्रेटर की सेवाएँ मिलने का प्रावधान है।
3. करेंसी नोटों पर उनका मूल्य आठवीं अनुसूची में सम्मिलित सभी भाषाओं की लिपि में अंकित करने की व्यवस्था है, भले ही स्थानाभाव के कारण अभी तक केवल प्रारंभिक सोलह भाषाओं की लिपियों में ही यह अंकन संभव हो पाया है।
4. अंतरिटेक्टिव टेक्स्ट (सेंट्रल लॉज) ऐक्ट, प्राविधिक अनुवाद(केन्द्रीय विधि) अधिनियम 1973 में प्रदत्त प्राविधानों (स्टैच्यूट्स) के अनुसार केन्द्रीय अधिनियमों, अध्यादेशों, आदेशों आदि का अनुवाद अष्टम सूची में सम्मिलित भाषाओं में किए जाने की व्यवस्था है। वर्तमान में विधि मंत्रालय, राजभाषा का विधायी विभाग द्वारा इस अनुसूची की ग्यारह भाषाओं में यह अनुवाद किया जाता है, जिनकी संख्या भविष्य में शीघ्र बढ़ने की अपेक्षा की जा रही है।
5. संविधान के भाग 17, अनुच्छेद 120(1) में यह व्यवस्था दी गई है कि संसद की औपचारिक बैठकों में कोई भी सांसद, संबंधित पीठासीन अधिकारी की अनुमति से, हिन्दी तथा अंग्रेज़ी के अतिरिक्त अपनी मातृभाषा में भी अपने विचार व्यक्त कर सकता है, परन्तु उस भाषा का आठवीं अनुसूची में सम्मिलित होना अनिवार्य है। ज्ञातव्य है कि लोकसभा तथा राज्यसभा के दोनों सदनों में आठवीं अनुसूची में शामिल भाषाओं के लिए इंटरप्रेटर की सुविधा प्रदान की गई है, परन्तु एतदर्थ सांसद द्वारा पीठासीन अधिकारी को पूर्व सूचना देना आवश्यक है, ताकि समयान्तर्गत इंटरप्रेटर की व्यवस्था की जा सके।

साहित्य अकादमी द्वारा मान्यता प्राप्त भाषाएँ और आठवीं अनुसूची

साहित्य अकादमी भारत सरकार की एक स्वायत्त संस्था है जिसका उद्देश्य भारतीय भाषाओं में स्तरीय लेखन को प्रोत्साहित करना है। इसके लिए अकादमी समय-समय पर प्रतिवर्ष उत्कृष्ट कोटि के साहित्यकारों को पुरस्कृत करती है। इसी परिप्रेक्ष्य में वर्ष 2010 में एक द्विदिवसीय कार्यशाला का आयोजन पौड़ी (गढ़वाल) में सम्पन्न हुआ था।

यह आवश्यक नहीं है कि साहित्य अकादमी केवल संविधान में सम्मिलित 22 भाषाओं के साहित्यकारों को ही पुरस्कृत करे। ध्यान रहे कि अकादमी द्वारा मान्यता प्राप्त तथा संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित भाषाएँ समान नहीं हैं। उदाहरण के लिए गढ़वाली और कुमाउँनी आठवीं अनुसूची में अभी तक शामिल नहीं हो पाई हैं, परन्तु साहित्य अकादमी द्वारा इन्हें मान्यता प्रदान की गई है। 25-26 जून सन् 2010 को साहित्य अकादमी के सहयोग से पौड़ी (गढ़वाल) में कुमाउँनी-गढ़वाली भाषाओं की द्वि-दिवसीय कार्यशाला संपन्न हुई, जिसमें अकादमी के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष सचिव सहित उत्तराखण्ड के लगभग सभी सुप्रसिद्ध साहित्यकारों ने भाग लिया। साहित्य अकादमी के वरिष्ठ अधिकारियों ने गढ़वाली और कुमाउँनी भाषाओं में रचित उत्कृष्ट कोटि के साहित्य पर प्रकाश डालते हुए इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। उनके द्वारा इन्हें देववाणी संस्कृत के निकट मानते हुए राष्ट्रभाषा का पोषक बताया जाना उत्तराखंडियों के लिए एक गौरव की बात थी। इसी अवसर पर क्षेत्रीय सांसद सतपाल महाराज ने गढ़वाली और कुमाउँनी को संविधान की आठवीं सूची में सम्मिलित किए जाने के विषय पर भी सविस्तार एवं प्रभावी ढंग से प्रकाश डाला।

इस संदर्भ में उत्तराखंडीय क्षेत्रीय भाषाओं के लिए एक विशेष उपलब्धि यह भी रही है कि वर्ष 2010 में गढ़वाली साहित्य उच्च स्तर की रचनाओं के दो रचनाधर्मियों- श्री सुदामा प्रेमी एवं श्री प्रेमलाल भट्ट, को संयुक्त रूप से साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। स्मरण रहे कि अनिवार्य न होने पर भी, किसी भाषा को आठवीं अनुसूची में शामिल करने के लिए प्रायः यह भी ध्यान में रखा जाता है कि क्या इस भाषा को किसी लेखक को साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत किया गया है या नहीं। राजस्थानी एक अन्य ऐसी भाषा है जो अकादमी द्वारा मान्यता प्राप्त है, परन्तु वह भी

संवैधानिक प्रावधानों में उलझती प्रमुख उत्तराखंडीय भाषाएँ

आठवीं अनुसूची में सम्मिलित होने की प्रतीक्षा में रत 36 भाषाओं में से एक है। साहित्य अकादमी ने अंग्रेज़ी भाषा की कुछ उत्कृष्ट कोटि के लेखकों को भी पुरस्कार दिए हैं जबकि एक विदेशी भाषा होने के कारण अंग्रेज़ी को संविधान की आठवीं सूची में सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

उत्तराखंडीय भाषाओं को अष्टम अनुसूची में सम्मिलित किए जाने के प्रयास

सन् 2000 में नवोदित राज्य उत्तराखण्ड के गठन के अनन्तर यहाँ के साहित्यकारों में अपनी बोली-भाषाओं के प्रति जागरूकता सुदृढ़ होने लगी। गढ़वाली-कुमाउँनी में समृद्ध साहित्य का भंडार है। तेरहवीं शती तक इस पर्वतीय क्षेत्र में हिंदी भाषा का कोई नामलेवा नहीं था। समस्त गढ़वाल और कुमाऊँ में राजकाज क्रमशः गढ़वाली और कुमाउँनी में होता था। सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डॉ. महेश्वर प्रसाद जोशी के मतानुसार 16वीं शती तक समस्त उत्तराखंड में राजकाज की एक ही भाषा थी। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक तथा इकीसवीं शती के प्रथम दशक में इस क्षेत्र में किए गए उत्खननों तथा शोध के फलस्वरूप यहाँ के बुद्धिजीवियों और भाषा प्रेमियों में 'निज भाषा की उन्नति' के प्रति एक नई स्फूर्ति और चेतना जाग्रत होने लगी। फलतः भारत के भाषायी परिप्रेक्ष्य में कुमाउँनी और गढ़वाली का भी उल्लेख होने लगा। तत्पश्चात् भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में इन भाषाओं को भी शामिल किए जाने का विषय तीव्र गति पकड़ने लगा।

जैसे कि पूर्व में उल्लिखित किया जा चुका है, संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित किए जाने के लिए अभी तक कोई निश्चित नियम या अर्हताएँ निर्धारित नहीं हैं, हलाँकि इस दिशा में कुछ प्रयास अवश्य किए गए। उदाहरणार्थ सन् 1996 में मुख्य सचिव की अध्यक्षता में एतदर्थ एक समिति का गठन किया गया जिसने सन् 1998 में कुछ मानदंड सुझाते हुए अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को सौंपी, साथ ही यह भी सिफारिश की कि इस गंभीर विषय पर गहन विचार-मंथन की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए पुनः एक उच्च स्तरीय समिति का गठन हो, जिसमें समाज के गण्यमान्य व्यक्ति, बुद्धिजीवी, विश्रुत साहित्यकार, विख्यात विधिवेत्ता आदि सम्मिलित किए जाएँ। इसी संदर्भ में डॉ. सीताकान्त महापात्र के सभापतित्व में एक उच्चधिकार प्राप्त

समिति गठित की गई। बताया जाता है कि इस समिति ने अपनी संस्तुतियाँ सरकार के पास प्रस्तुत कर दी थीं, परन्तु ऐसी ही कुछ अन्य समितियों द्वारा दी गई सिफारिशों के सदृश ही डॉ. महापात्र समिति की अनुशंसाओं का भी कुछ अता-पता नहीं चल पाया। संभवतया यह भी कुछ पत्रावलियों के ढेर में दबी पड़ी होंगी।

संविधान की अष्टम अनुसूची में सम्मिलित किए जाने के लिए संबद्ध भाषा बोलने वालों की संख्या, उसमें रचित साहित्य के स्तर, लोकप्रियता, प्रचलन आदि का कभी-कभी उल्लेख किया जाता है। परन्तु इन शर्तों का कोई सुस्पष्ट आधार नहीं है। अपने समय में नेहरू जी का राजनीतिक कद इतना ऊँचा और व्यापक था कि हिंदी की ही एक शैली-उर्दू को तुरंत आठवीं अनुसूची में सम्मिलित किए जाने का जिक्र पीछे किया जा चुका है। पिछले दशक से गढ़वाली और कुमाउँनी को अष्टम अनुसूची में पौड़ी के सांसद श्री सतपाल महाराज द्वारा संसद में तथा अन्यत्र इस विषय पर सशक्त ढंग से पैरवी की गई। सन् 2011 की जनगणना के दौरान विभिन्न माध्यमों द्वारा गढ़वाल एवं कुमाऊँ मंडल के प्रबुद्धजनों ने, नागरिकों से अपने-अपने क्षेत्र की भाषाओं को अंकित कराने का पुरजोर आवाहन किया। इसका प्रतिफल तो निकट भविष्य में ही पता लग जाएगा, परन्तु जन चेतना का व्यापक जागरण एवं राजनीतिक प्रबल संबल इस दिशा में विशेष कारगर हो सकते हैं। साथ ही हम यह न भूलें कि इन दोनों भाषाओं का दैनंदिनी वागव्यवहार और प्रभूत मात्रा में स्तरीय साहित्य-रचना भी आवश्यक है।

कुमाउँनी-गढ़वाली की वर्तमान स्थिति एवं भावी संभावनाएँ

उत्तराखंडीय उपर्युक्त दोनों लोकभाषाएँ पिछले दो-तीन दशक से अपनी उन्नति और उत्कर्ष के प्रति विशेष रूप से जागरूक हैं। अलग राज्य के गठन के पश्चात् इस क्षेत्र में एक नई ऊर्जा दिखाई देने लगी। प्रवासी अप्रवासी उत्तराखंडीय जनसमुदाय में पुरानी हीन भावना का ह्रास हो रहा है। सुदूर अमेरिका, कनाडा, बर्तानिया, जर्मनी, हंगरी आदि कई देशों में गढ़वाल-कुमाऊँ के प्रवासी बन्धु-बान्धवों में अपनी 'दुद्बोली' के प्रति आत्मीयता और लगाव का संचार उन देशों में इसके लिए गठित संगठनों और अन्य प्रयासों से लक्षित हो रहा है। इनकी बैठकों में समय-समय पर दोनों भाषाओं को संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित कराए जाने का विषय भी चर्चित होता है।

संवैधानिक प्रावधानों में उलझती प्रमुख उत्तराखंडीय भाषाएँ

राजधानी में गठित 'उत्तराखंड भाषा संस्थान', 'अखिल गढ़वाल सभा' 'कूर्माचल भवन' तथा दोनों मंडलों में स्थापित अनेक संस्थाएँ तथा कई बुद्धिजीवी स्वतंत्र एवं सामूहिक रूप से गढ़वाली-कुमाउँनी को संवैधानिक मान्यता दिलाने के लिए प्रयत्नरत हैं। सन् 2011 में कुछ उत्तराखंडीय भाषाविदों, भाषाप्रेमियों, संपादकों, रचनाकारों, साहित्यकारों आदि का एक प्रतिनिधिमंडल तत्कालीन भाषा-मंत्री से भी मिला। अभी तक सभी से इस विषयक आश्वासन तो कई बार मिल रहे हैं, परन्तु इन्हें विधिपूर्वक कब कार्यान्वित किया जाता है, यह अनिश्चित है।

कुमाउँनी गढ़वाली को संविधान की अष्टम अनुसूची में सम्मिलित होने पर इससे मिलने वाले लाभ वास्तविक रूप से यहाँ के निवासियों के लिए कितने हितकर होंगे, इस विषय पर कुछ शंकाएँ भी यदा-कदा मुखरित होती रहती हैं। यह सत्य है कि रोजगार के उपयुक्त और पर्याप्त संसाधनों के अभाव में इस क्षेत्र से अन्यत्र पलायन हो रहा है। फलतः जनसंख्या के विस्थापन के साथ-साथ भाषा बोलियों भी ह्रासोन्मुख हैं। यहाँ का संपन्न ही नहीं, वरन् विपन्न जनसमुदाय भी अपने नौनिहालों को हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से शिक्षा दिलाने का पक्षधर है। अंग्रेज़ी में ही उन्हें अपने बच्चों का सुनहरा भविष्य नजर आता है। ऐसे परिदृश्य में गढ़वाली-कुमाउँनी माध्यम का कितना स्वागत होगा, इसका अनुमान करना कठिन है। अष्टम अनुसूची में परिगणित अन्य लाभों, यथा- संघ लोक सेवा आयोग द्वारा दी जाने वाली सुविधाएँ, करेंसी नोटों पर उनके मूल्य का मुद्रण, अधिनियमों आदि का गढ़वाली-कुमाउँनी में अनुवाद, इस क्षेत्र के सांसदों को संसद में मातृभाषा में विचार व्यक्त करने का विकल्प आदि सुविधाओं के प्रति उत्तराखंड का जन-समुदाय कितना आकर्षित और उत्साहित होगा, इसका अधिमान्य उत्तर वर्तमान परिदृश्य में ढूँढना और पाना दुष्कर होगा। इस सत्य को भी अवेहलित नहीं किया जा सकता कि गढ़वाल-कुमाउँ क्षेत्र में किसी सामान्य निवासी या प्रवासी से उसकी स्पष्ट राय ली जाय और उनसे पूछा जाय कि गढ़वाली-कुमाउँनी को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किए जाने के उपरान्त क्या वह अपने पुत्र-पुत्रियों, नाती-पोतों तथा परिजनों की सन्तान को, उपर्युक्त सुविधा का लाभ उठाते हुए आठवीं कक्षा तक मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा दिलाने के लिए उद्यत होगा, तो वह भी स्पष्ट उत्तर देने के लिए बगलें झाँकने

लगेगा। लगभग यही स्थिति अष्टम अनुसूची में सम्मिलित भाषाओं को मिलने वाले अन्य लाभों के बारे में की जा सकती है। कुछ का मत है कि सिविल सर्विस परीक्षा के लिए निर्धारित विषयों के सभी प्रश्न पत्रों का उत्तर क्या गढ़वाली एवं कुमाउँनी भाषाओं में दिया जा सकता है? क्या इन भाषाओं तथा इनकी शब्दावली में वर्तमान विषयों में पूर्णतः विचार व्यक्त करने की शक्ति है? साक्षात्कार के दौरान क्या सभी वैज्ञानिक, तकनीकी, सूचना-प्रौद्योगिकी, भेषज, खेल-कूद आदि अनेक आधुनिक विषयों पर गढ़वाली-कुमाउँनी में स्पष्ट तथा आधिकारिक उत्तर दिए जा सकते हैं? करेंसी नोटों पर उनका मूल्य केवल प्रारंभिक सोलह भाषाओं की लिपि में अंकित रहता है, जबकि आठवीं अनुसूची में अब तक बाईस भाषाएँ सम्मिलित हैं। क्या गढ़वाली-कुमाउँनी का नाम इनमें अंकित होगा? यदि हो भी गया तो इससे सामान्य जनसमुदाय को क्या लाभ होगा? इसी प्रकार संसद की कार्यवाही तथा अधिनियमों, अध्यादेशों आदि विषयों में मिलने वाली सुविधाओं को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उपयोगिता या सार्थकता पर भी शंकाएँ व्यक्त की जाती हैं।

निष्कर्ष :

समग्रतः कहा जा सकता है कि संभवतया उपर्युक्त आशंकाएँ सतही स्तर पर कुछ सीमा तक तर्कसंगत प्रतीत हों, परन्तु हमें कदापि यह नहीं भूलना चाहिए कि गढ़वाली-कुमाउँनी में विकास को अवरुद्ध करने में 'हीन भावना' का होना एक मुख्य कारण रहा है। इन भाषाओं को अभी तक पिछड़ेपन का द्योतक समझा जाता रहा है। भाषा और संस्कृति का अटूट संबंध होता है। उत्तराखंड की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत यहाँ की भाषाओं से जुड़ी है। इन्हीं भाषाओं में हमारी खास पहचान अभी तक अक्षुण्ण है। संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल हो जाने के पश्चात् गढ़वाली-कुमाउँनी भारत के भाषायी मानचित्र पर अपनी उपस्थिति प्राप्त कर विशिष्ट स्थान बना सकेंगे। यह हमारी अस्मिता के अनुरक्षण का प्रश्न है। इसका क्षरण कदापि नहीं होना चाहिए। अष्टम अनुसूची में सम्मिलित हो जाने के फलस्वरूप अवश्यमेव क्षरण को रोका जा सकेगा।

